

॥ ओ३म् ॥

गुरुकुल पत्रिका

(शोध)

अप्रैल, मई, जून, 2009



सम्पादक
प्रो० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९४०४

॥ ओ३म् ॥

गुरुकुल पत्रिका (शोध)

अप्रैल, मई, जून
2009



सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

॥ १९८१ ॥

(१९८१) कृषि सुकृत

सूच, वे, सु
२००३



कृषि
सूच, वे, सु
सूच, वे, सु

सम्पादक मण्डल

संरक्षक मण्डल

श्री सुदर्शन शर्मा

कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पद्मश्री देवेन्द्र त्रिगुणा

परिद्वष्टा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो. स्वतन्त्र कुमार

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आचार्य रामनाथ जी वेदालङ्कार

भूतपूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

निदेशक

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर संस्कृत-विभाग

सम्पादक मण्डल

डॉ० दिनेश चन्द्र शास्त्री, रीडर-वेद विभाग

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार, रीडर- वैदिक शोध संस्थान

डॉ० ब्रह्मदेव विद्यालंकार, रीडर- संस्कृत विभाग

व्यवसाय-प्रबन्धक

डॉ. जगदीश विद्यालंकार

पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक

प्रो. ए. के. चोपड़ा

कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वित्त अधिकारी

डॉ. डी. आर. खन्ना

वित्ताधिकारी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334 - 245975

विषय सूची

क्र.सं.

पृष्ठ संख्या

❖ वेदमञ्जरी

आचार्य: रामनाथ वेदालङ्कार:

❖ सम्पादकीय

प्रो. महावीर

1. वेदकाव्यामृत

डॉ० विजयवीर विद्यालंकार

1-17

2. सात्विक भावों की मनोवैज्ञानिक समीक्षा

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी

18-28

3. वेद की पहेलियों का वैज्ञानिक अर्थ

डॉ० हरिहर प्रसाद

29-34

4. महाकवि श्री हर्ष का आयुर्वेदिक ज्ञान

डॉ० पुष्पा मलिक

35-45

5. वैदिक कर्म-मीमांसा

अपर्णा धीर

46-51

6. जल-संरक्षण में अभिनव काव्य 'रक्षत गङ्गाम्' डॉ० अर्चना कुमारी दुबे

52-61

7. उपनिषदों का कालानुक्रम

डॉ० (श्रीमती) सीमा श्रीवास्तव

62-68

8. जौनसारी जनजाति

डॉ० कामना जैन

69-80

9. लोक भाषा संस्कृत"

डॉ० सञ्जय कुमार

81-88

10. वेदों का अर्थशास्त्रीय अवलोकन

डॉ० जगत् नारायण ठाकुर

89-100

वेदमञ्जरी संपारणं वसु

आ नस्तुजं रयिं भरांशं न प्रतिजानते।

वृक्षं पक्वं फलमङ्गीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु॥

ऋग्वे० 3.45.4

ऋषिः गाथिनो विश्वामित्रः। देवता इन्द्रः। छन्दः बृहती।

हे (इन्द्र) परमेश्वर! (नः) अस्मभ्यं (तुजं) दुःखनाशकं, बलप्रदायकं निवासप्रदं (रयिम्) आध्यात्मिकम् ऐश्वर्यम् (आभर) आनय, पिता (प्रतिजानते) प्रतिज्ञां गृह्णते पुत्राय (अंशं न) यथा पैतृकसम्पत्तेः भागम् आनयति। (अङ्गी इव) यष्टिधरः मनुष्यो यथा (वृक्षं पक्वं फलं) वृक्षात् परिपक्वं फलम् अवधूनुते, अधः पातयति, तथा अस्मभ्यं (संपारणं वसु) जगत्प्रपञ्चात् पारयितुं ऐश्वर्यम् (अवधूनुहि) प्रकम्य अधः पातय।

यदा तनयः पितुरुत्तराधिकारं प्राप्तुं यथायोग्यं प्रतिज्ञां गृह्णाति तदासौ पैतृकसम्पत्तेरंशावाप्तेः अधिकारी जायते। हे परमपितः परमात्मन्! अहमपि तव तनयोऽस्मि, त्वत्सकाशाद् ऐश्वर्यम् अधिगन्तुम् इच्छामि। अतः यथोचितप्रतिज्ञाग्रहणाय उद्यतो भूत्वा त्वत्सम्मुखम् अवनतशिरस्कः स्थितोऽस्मि। अहं प्रतिज्ञां गृह्णामि यत् त्वन्नाम्नः कीर्तिम् अक्षुण्णां रक्षिष्यामि, त्वदीयसत्प्रेरणानुसारेण च जीवनं यापयिष्यामि। अतस्त्वं मदीयम् अंशं मह्यं प्रदेहि। किन्तु अहं त्वां लौकिकीं सम्पत्तिं न याचे, अहं तु तद् आध्यात्मिकम् ऐश्वर्यं प्राप्तुं वाञ्छामि, यत् 'तुजं' भवेत्। 'तुज' शब्दः तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु इति धातोर्निष्पद्यते। तद् ऐश्वर्यं 'तुजं' भवति यद् दुःखानां हिंसकं, बलप्रदायकं, त्रुटिनामाहरकम् आवासप्रापकं च स्यात्। यत्सत्यं पितुः त्वत्सकाशात् एवविधस्यैव ऐश्वर्यस्य प्राप्तेराशामहं करोमि। अहं त्वत्तो ब्रह्मत्वस्यैश्वर्यं प्राप्तुमिच्छामि, तस्य ब्रह्मतेजसोऽधिकारंग्रहीतुं वाञ्छामि, यत्सम्मुखं महदपि शरीरं बलं क्षात्रं तेजो वा तुच्छं भवति, 'ब्रह्मतेजो बलं बलम्' इति कथनात्।

अयि इन्द्र! हे देवेश! त्वं मह्यं 'संपारणं वसु' प्रयच्छ, तादृशम् ऐश्वर्यं प्रदेहि, यज्जगत्प्रपञ्चात् पारयितुं भवेत्, गमनागमनचक्रात् त्याजयेत्। हे परमेश्वर! त्वं फलैः परिपूर्णः पादप इव दिव्यैरैश्वर्यैः परिपूर्णोऽसि। त्वम् उच्चैः स्थितोऽसि, अहम् अधो भूमौ अवस्थितोऽस्मि। यथा कश्चिद् अग्राङ्गवतीं यष्टिं गृहीत्वा, वृक्षशाखां तस्यां विपाट्य, वृक्षमवधूय परिपक्वानि फलानि अधः पातयति, तथैव त्वं स्वात्मनि लग्नानि संपारणानि वसूनि ममात्मनि पातय। एतावत् संपारणं वसु मम मनोभूमौ विक्षिप यद् बहूनि वर्षाणि संचिन्वतोऽपि मम तत् समाप्तिं न गच्छेत्। हे धनिक पितृवर! मदीयमेतद् आह्वानं शृणु, पुत्राय मह्यं ममाधिकारस्य दिव्यां पैतृकीं सम्पदां परिप्रयच्छ।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीयम्

इस देश के मनीषियों ने विद्या का महत्त्व निरूपित करते हुए कहा- विद्ययाऽमृतमश्नुते, सा विद्या या विमुक्तये, विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्, विद्या ददाति विनयम्।

इन अमृतवचनों को पढ़कर या सुनकर मन में स्वाभाविक रूप से प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह कौन सी विद्या है, जिससे मानव अमृत को प्राप्त करता है, या जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है और जो सभी धनों में प्रधान होते हुए विनय प्रदान करने वाली है।

वर्तमान समय में शिक्षा या ज्ञान Knowledge के नाम पर जो प्राप्त किया जा रहा है, उससे तो अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती। वह शिक्षा धन प्रदान करती है। नाना प्रकार के भौतिक सुख, साधन देती है, साथ ही लोभ, मोह, अहंकार आदि विकारों की भी जननी है। यही कारण है कि शिक्षण संस्थानों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि के साथ अपराध, आतंक, बलात्कार, हत्या आदि की घटनाओं में भी प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। अनैतिकता, दुराचार, भ्रष्टाचार का बोलबाला है। शिक्षा का उद्देश्य केवल धनार्जन एवं उससे अधिकाधिक भोग-साधनों की प्राप्ति रह गया है। यही कारण है कि बड़े-बड़े पदों पर आसीन नेता, अधिकारी जनता के सामने कोई आदर्श स्थापित नहीं कर पा रहे हैं। चन्द चांदी के टुकड़ों के लिये मदिरा के प्याले में सब कुछ स्वाहा कर दिया जाता है, अतः व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की अन्धी दौड़ में यह चिन्तन करना सर्वथा आवश्यक है कि, कहीं मानवता का अस्तित्व ही समाप्त न हो जाये। प्राचीन काल में गुरुकुलों से शिक्षा प्राप्त स्नातकों को विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक आदि पवित्र उपाधि से विभूषित किया जाता था। ये स्नातक वेद-विद्या अथवा आध्यात्मिक विद्या प्राप्त कर स्वयं अपना जीवन सार्थक करते थे, और जहां कहीं निवास करते थे वहां भी प्रेम और अमृत की गंगा प्रवाहित किया करते थे। 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' इन वेदविद्या विशारदों का जीवन लक्ष्य था।

अहह! कैसा था वह स्वर्णिम युग, जब प्रत्येक सदन, वेदमन्त्रों की मधुर ध्वनि से गुञ्जायमान रहता था, यज्ञधूम से सम्पूर्ण वायुमण्डल पवित्र था। आज पुनः उसी अमृत विद्या की हमें आवश्यकता है, जो देशवासियों के हृदयों में प्रभु-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति एवं पावन भावों से भर दे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय अपने स्थापना काल से ही इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सर्वात्मना प्रयासरत है। इसी उदात्त भावना से २०, २१, २२ नवम्बर २००९ को अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द की पावन कर्मस्थली गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में ए

क विशाल विश्व-वेद-सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में देश के कोने-कोने से वेद के विद्वान् और विदुषियां पधार रहे हैं। वेद के इस महाकुम्भ पर सब चिन्तक बैठकर वेदोदधि का मन्थन करेंगे और उसमें से अमृत को प्राप्त कर अपना जीवन धन्य करेंगे।

हम गुरुकुलवासी मान्य अतिथियों के स्वागत-अभिनन्दन के लिये समुत्सुक हैं।

विदुषां विधेयः

प्रो० महावीर

वेद काव्यामृत (यजुर्वेद संहिता) अथ पञ्चमोऽध्यायः

ले. डॉ० विजयवीर विद्यालंकार,

पूर्व प्राचार्य महाविद्यालय

पूर्व डीन, प्राच्य भाषा संकाय

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वाऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे
त्वा श्येनाय त्वा सोमभूते विष्णवे त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा॥१॥

नित यज्ञ-सिद्धि व वायु-शुद्धि विज्ञान-यज्ञ विधान करा।

यज्ञाग्नि है आराध्य याज्ञिक सुशरीरवत् अपिधान करा॥

श्येनवत् द्रुतगामी आहुति अतिथि का सम्मान करा।

सुख-प्राप्ति-हित काष्ठादि से आपूर्त अग्न्याधान करा॥१॥

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ ऽ उर्वश्यस्यायुरसि पुरुरवां ऽ असि। गायत्रेण त्वा
छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥२॥

आग्नेय अस्त्रादिक प्रदाता अग्नि को संसिद्ध करा।

हैं वृष्टिकारक सूर्य वायु आयुष्य को समृद्ध करा॥

वेदोक्त विधि से यज्ञ कर और वायुमण्डल शुद्ध करा।

दुःख दूर हों सब यज्ञ से मत कार्य शास्त्र-विरुद्ध करा॥२॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं
जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

हे अग्निमय परमेश हम सब ज्ञान-मन-निष्पाप हों।

निर्विघ्न हम यजमान यज्ञों को करें शिव आप हो॥३॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऽ ऋषीणां पुत्रो ऽ अभिशस्तिपावां।

स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥४॥

सर्व द्रव्य प्रविष्ट है नित अग्नि विद्युत जो यहाँ।

वेदज्ञ पाठक और पाठित आचरणयुत हैं यहाँ॥४॥

आपतये त्वा परिपतये गृहामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन् ५ ओजिष्ठाया।

अनाधृष्टमस्यनाधृष्टं देवानामोजोऽनभिशास्त्यभिशास्तिपा ५ अनभिशास्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगोपस्
स्विते मा धाः॥५॥

हर काल में हर स्थान में रक्षक हमारे आप हैं।

हमको सदा सामर्थ्य दे तन के मिटाते ताप हैं॥

विद्वान् का अपमान कोई भी न कर सकता कभी।

निज सत्य-तेज बिना कोई जीवन न तो जी सकता कभी॥५॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियस् सा मयि यो यम तनूरेषा सा त्वयि

सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षार्पतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥६॥

साक्षी व्रतों के हे व्रताधिप पालन व्रतों का हम करें।

मुझ में है तू तुझ में हूँ मैं तन-मन से तप हरदम करें॥

व्रत-मार्ग जो निर्दिष्ट है आदेश हम को दीजिए।

दीक्षा व तप से युक्त कर कृतकृत्य हमको कीजिए॥६॥

अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे।

आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व।

आप्याययास्मान्सखीन्तसन्न्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीया

एष्टा रायः प्रेषे भगाय ५ ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥७॥

जो अंग-अंग की रक्षा करता अथवा उन्हें बढ़ाता है।

वही धर्म-विज्ञान-धनादिक-पथ की ओर बढ़ाता है॥

अर्थ-ज्ञान-प्रज्ञा प्रदान कर मित्र वर्ग को रचता है।

क्रिया-कुशलता इष्ट सिद्धिदाता जगदीश्वर जंचता है॥७॥

या ते ५ अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं

वचो ५ अपावधीत् स्वाहा। या ते ५ अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।

उग्रं वचो ५ अपावधीत्त्वेषं वचो ५ अपावधीत् स्वाहा। या ते ५ अग्ने हरिशया

तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो ५ अपावधीत्त्वेषं वचो ५ अपावधीत् स्वाहा॥८॥

स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों में है व्याप रहा विद्युत महान।

स्वर्ण धातु में सूर्य लोक में अश्वादि प्राणि में विद्यमान॥

विद्युत द्वारा ध्वनि-विस्तारक यन्त्रादिक निर्माण करें।

आहुतिवत् हर वचन हमारा दूर-दूर निर्गमन करे॥८॥

तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्।

विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽ अङ्गिरऽ आयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽ अङ्गिरऽ आयुना नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। अनु त्वा देववीतये॥९॥

सर्ववस्तु आधार है विद्युत् भोग-पदार्थों का प्रापक।

विधिपूर्वक करना सेवन यह भय-रक्षक जल-द्युतिमापक॥

जठराग्नि करे संचार रसों का सर्वांगों में लगातार।

दिव्य भोग निःशेष आयु को जोड़ रहा है तार-तार॥

यज्ञाग्नि ख्यात से तेज खोज लेना हे यज्ञों के साधक।

सूर्याग्नि से आयु प्राप्त कर त्रिविध अग्नि के आराधक॥९॥

सिंद्वासि सपलसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंद्वासि सपलसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिंद्वासि सपलसाही देवेभ्यः शुम्भस्व॥१०॥

शब्दोच्चारक वाणी से गुणवानों को विद्वान् पढ़ा।

दोष दूर कर वाणी के शुचि जीवन की शोभा को बढ़ा॥१०॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पाल्विदमहं तप्तं वार्षहिर्धा यज्ञानिः सृजामि॥११॥

शब्द-अर्थ-सम्बन्ध-प्रबोधक सर्व कर्म कर्ता है तू।

पाठन-पठन यज्ञ वाणी की शिक्षा-रक्षा-कर्ता तू॥

पूर्वोत्तर दक्षिण पश्चिम में मनवत् वेगवती वाणी।

पालनहारी जाननहारी सब के लिए हो कल्याणी॥११॥

सिंद्वासि स्वाहा सिंद्वास्यदित्यवनिः स्वाहा सिंद्वासि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिंद्वासि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिंद्वास्यवह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

ऋतु सेवन क्रूरत्व दलन युत संस्कारित होवे वाणी।

चतुर्वेदविद् से संयुत हो मधुरिम हो तेरी वाणी॥

जड़ता-नाशक वीर-सुप्रेरक अन्याय-विदारक हो वाणी।

विद्या-धन-पोषक प्रजा प्रपालक पूज्य यज्ञमय हो वाणी॥१२॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृंह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंहोऽप्युतक्षिदसि दिवं दृंहग्नेः पुरीषमसि॥13॥

यज्ञ बढ़ाता दृढ़ पृथिवी को निश्चल सुख शास्त्रों का वास।
अन्तरिक्ष स्थित पदार्थ-पोषक नाश रहित इसका आवास॥
विद्या प्रकाश को द्योतित करता विद्युत-अग्नि का यह स्थान।
पशु-धनदायक प्रवृद्धिकारक यज्ञों का नित हो अनुष्ठान॥13॥

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः॥

वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥14॥

ज्ञान-कर्म युत उस अनन्त की महिमा को ज्ञानी जाने।
सब विद्या युत जगदुत्पादक सर्व प्रकाशक को माने॥
योगी जन जिसमें ध्यान लगाते मन-बुद्धि से हैं दिन-रात।
उत्तम कर्म-प्रवृत्त हैं निश्चल निश्चित जिनके पावन गात॥14॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाथंसुरे स्वाहा॥15॥

दृश्यादृश्य जगत् को रचकर त्रिविध रूप से व्याप रहा।
धरती से द्यूलोक तलक वह अन्तरिक्ष को माप रहा॥15॥

इरावती धेनुमती हि भूतः सूर्यवसिनी मनवे दशस्या॥

व्यस्कम्ना रोदसी विष्णवेते दाधत्यं पृथिवीमभिते मयूखैः स्वाहा॥16॥

सर्वव्यापक हे जगदीश्वर अन्नवाणी और प्रजा।
भूमि वेदवाणी धारण कर जिह्वावत् दशनों में सजा॥(1)
प्राणिमात्र के लिए प्रभु ने सूर्यदेव उत्पन्न किया।
उसके किरणों से बल ऊर्जा प्रजा-पशु का दान दिया॥(2)॥16॥

देवश्रुतौ देवेष्वामोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऽ ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्।

स्वं गोष्ठमावदतं देवा दुष्यं ऽ आयुर्मा निर्वीदिष्टं प्रजां मा निर्वीदिष्टमत्र रमेथां वर्षीन् पृथिव्याः॥17॥

विद्वानों से ज्ञान श्रवण कर वैज्ञानिक सन्धान करें।
इनसे हो सुख-शान्ति सदा जन-मानस का परित्राण करें॥
अमूल्य आयु को कुटिल क्रिया में यों ही मत बरबाद करें।
दिव्य-किरण-उपयोग करें और सृष्टि ज्ञान आबाद करें॥17॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाथंसि।

यो ऽ अस्कंभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥18॥

है जगत्कर्ता वही और नित्य वह जगदीश है।

वेद द्वारा विविध अर्थों को बताता ईश है॥
 पार्थिव गुणों से त्रिविध लोकों को रचाता है वही।
 थाम कर रखता उन्हें, उन को बचाता है वही॥
 आश्रय उसी का लें सदा यज्ञोपवासन के लिए।
 वाणी रहे उसके पराक्रम-कर्म-वर्णन के लिए॥

दिवो वा विष्णो ऽ उत वा पृथिव्या महो वा विष्णोऽउरोरन्तरिक्षात्।

उभा हि हस्ता वसुना पुणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥१९॥

हे सर्वव्यापक अग्नि द्रव्यादिक से सुखमय कीजिए।
 योगयुत विज्ञान से मेरे दोनों हाथ ये से भर दीजिए॥१९॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२०॥

जिसके विविध क्रमों में सारे लोक निवासित होते हैं।
 भयप्रद निन्दित प्राणि-वधिक पल भर में प्रवासित होते हैं॥२०॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्वज्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि।

वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥२१॥

सर्वव्यापक वह परमेश्वर नित्य व स्वतः प्रकाशित है।
 सर्वत्र प्रविष्ट व सुखस्वरूप वह यज्ञादिक से भासित है॥२१॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।

आददे नार्यसीदमहः रक्षसां ग्रीवा ऽ अपि कृन्तामि।

बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वार्च वद॥२२॥

यज्ञानुष्ठान सदा करना इससे सब काम सुधरते हैं।
 ऐश्वर्य कीर्ति युत हों याज्ञिक, दुष्टादिक इससे डरते हैं॥२२॥

रक्षोहर्ण बलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं बलगमुत्किरामि यं मे निष्टयो यममात्यो निचखानेदमहं
तं बलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं बलगमुत्किरामि यं मे सबन्धुर्यमसबन्धु
निचखानेदमहं तं बलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥२३॥

बलप्रदायक दुष्टनाशक नित्य यज्ञादिक करो।
 भूगर्भविद्याविद् खनन कर भू पे कृष्यादिक करो॥
 मित्र-बान्धव आत्मबलदायक व पालक यज्ञ है।
 अरि-निवारक क्रियाकारक पठन-पाठक यज्ञ है॥२३॥

स्वराडसि सपलहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥24॥

स्वतः राजित स्व प्रकाशित सर्व-यज्ञ-प्रकाश हो।

जन-विराजित साधु-हित दुष्टों का करते नाश हो॥24॥

रक्षोहणो वो बलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवात्रक्षोहणो वो बलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् रक्षोहणो
वो बलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् रक्षोहणौ वां बलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां
बलगहनौ पूर्यहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थः॥25॥

शत्रु-बल हर गर्व-मल हर दुष्ट दस्यु विनाश हो।

सैन्य-शिक्षण शिष्ट-रक्षण हित सदा अधिवास हो॥25॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यं पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहं रक्षसां
ग्रीवाऽ अपि कृन्तामि। यवोऽसि यवयास्मदद्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा
शुन्धन्तांल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥26॥

उस जगत्कर्ता आनन्ददाता का ही यह संसार है।

प्राणापान बल और वीर्य दे उसने किया उपकार है॥

नित जगत् रक्षा दुष्ट शिक्षा में निमज्जित मैं रहूँ।

धू-द्रव्य शोधन और पोषण की सुविधा मैं कहूँ॥26॥

उद्विंस् स्तभानान्तरिक्षं पूण दृंहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण
धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्योषवनि पर्यहामि। ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां
दृंह॥27॥

यज्ञ और विद्वान् बढ़ाते सुख समृद्धि वेद निधि को।

अचल धर्म की राह बताते सच्छास्त्रोक्त वेद-विधि को॥

प्राणापान प्रयुक्त कराते विद्या गुण का प्रकाश करे।

सद्विद्या सद्गुण राज्य बढ़ा अज्ञान-तिमिर का नाश करे॥27॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजयां पशुभिर्भूयात्।

धृतेन द्यावापृथिवी पूर्यथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥28॥

हे यजमान पत्नी तुम दृढ़ हो, यह यजमान तभी दृढ़ है।

गार्हस्थ्य जगत् में प्रजा पशुयुत हो संकल्पित सुदृढ़ है॥

नित्य घृतादिक द्रव्यों से आपूरित वातावरण करो।

आत्मज्ञान पाकर दोनों आश्रय औरों को प्रदान करो॥28॥

परि त्वा गिर्वणो गिरं ऽ इमा भवन्तु विश्वतः। वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥29॥

हे स्तुत्य महेश्वर स्तुति मेरी शाश्वत हो मत तात्कालिक हो।

यह बढ़े निरन्तर बने प्रीतिकर कभी नहीं वैकल्पिक हो॥29॥

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि। ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि॥30॥

जगत्पति का अन्तरिक्ष ज्यों सब पदार्थ का आश्रय है।

उसी भाँति वह प्राणिमात्र सूर्यादि लोक-लोकाश्रय है॥30॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः। श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥31॥

नीलाकाश सदृश तुम व्यापक परमेश्वर्य समन्वित हो।

तुम हुताग्निवत् हव्यवाह और हव्य-द्रव्य सम्पादित हो॥

तुम प्राणों के प्राण प्रचेता पवन-समान प्रवाहित हो।

सकल विश्व के जाननहारे तुम ही ज्ञान-विभावित हो॥31॥

उशिगंसि कविरुद्धारिरसि बभ्रारिवस्यूरसि दुर्वस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः। सम्राडंसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्का मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥32॥

कुटिल चाल जीवों के हन्तक कान्तिमान हे क्रान्तप्रज्ञ।

बन्धन मोक्षक तार-तन्तु विस्तारक शंसित सर्व विज्ञ॥

शुद्ध सर्वशोधक सुप्रकाशित सूक्ष्म वस्तु-विन्यासक हो।

वंचक-वारक हव्य-विधायक सुख-दुःख बोधनकारक हो॥

अन्तरिक्ष को प्रकाशयुत कर सत्यधाम तुम करते हो।

हे सर्वगुणेश्वर नित्योपासक के हर दुःख को हरते हो॥32॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा ऽ अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्रमां तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥33॥

गमनागमन करने वाला सर्व प्राणियों का हित है।

जग-व्यापक अज के एक पग में सारा विश्व समाहित है॥

वह व्यापक है अन्तरिक्ष में वाणी-ऐश्वर्य सुस्थानक है।

सत्य-धर्म-व्यवहारशील का एक मात्र वह मानक है॥

धर्म मार्ग पर मुझे चलाकर भगवन् बेड़ा पार करो।

देवयान का पथिक बनाकर सर्वकाल उद्धार करो॥33॥

मित्रस्य मा चक्षुपेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रोद्रेणानीकेन
पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो बोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट॥३४॥

अन्तरिक्ष आकाशयुक्त उत्तम पदार्थ पाने वाले।

मित्र दृष्टि से अवसर दे हे विद्वान् पढ़ाने वाले॥

संसाधित विद्युत रौद्र सैन्य युत पालन मेरा आप करें।

स्वीकार नमन कर सुख पूरण कर मेरे सब विध ताप हरे॥३४॥

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य
ऽ उरु यन्तासि वरूथं स्वाहा जुषाणो ऽ अप्तराज्यस्य वेतु स्वाहा॥३५॥

हे सोमेश्वर सब विद्वज्जन के सर्व रूप प्रकाशक हो।

तन-मन कृत कुत्सित कर्मों के तुम ही एक नियामक हो॥

द्वेषादिक हर कर जीवों के उत्तम गृह आदि प्रदायक हो।

उत्तम वाणी व्यापक विज्ञान नित सेव्य वेद-विज्ञापक हो॥३५॥

अग्ने नय सुपथा राये ऽ अस्मान्विश्वा नि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूर्यिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥३६॥

हे अग्रणी सन्मार्ग पर हम को सदा ले जाइए।

सम्पूर्ण विद्या युक्त हे सुख-विज्ञान प्राप्त कराइए॥

हमसे कुटिलतायुक्त पापी कर्म दूर भगाइए।

नत आपकी स्तुति रूप शंसा प्रचुर देव कराइए॥३६॥

अयं नो ऽ अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर ऽ एतु प्रभिन्दन्।

अयं नो ऽ अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधःपुर ऽ एतु अभिन्दन्।

अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयं शत्रूञ्जयतु जर्हषाणः स्वाहा॥ ३७॥

ईशोपासक प्रजास्थ जीवों की रक्षा दिन-रात करो।

युद्ध-कुशल हो दुष्ट जनों को घेर-घेरकर घात करो॥

छिन्न-छिन्न अरिदल को करके संग्रामों को नित जीतें।

विजय-वीर बन हो प्रसन्न जय-जय नादों में दिन बीतें॥३७॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।

धृतं धृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

विद्या-फल को सुष्ठु रूप से गृह-विज्ञान निमित्त करें।

विद्या-शिक्षा युक्त पुरुष नित बल-हित धृत प्रयुक्त करें॥

ज्यों ऋत्विज विद्वान् करे रक्षा यजमानों की हरदम।

शूर-वीर हे यज्ञों से हो पार, नहीं तू किसी से कम॥38॥

देव सवितरेष ते सोमस्तः रक्षस्व मा त्वा दमन्। एतत्त्वं देव सोम देवो

देवाँर ऽ उपांगा ऽ इदमहं मनुष्यान्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥39॥

विद्या-प्रकाश करने वाला विद्वान् सदा ऐश्वर्यवान्।

शत्रुजनों से वह न कभी बिलकुल होता है नाशवान्॥

उसका सब देते साथ सदा उसको धन की होती न कमी।

उसका नहीं होता तिरस्कार और आँखों में होती न नमी॥39॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्य भूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियः सा मयि।

यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षा दीक्षार्पतिरमस्तानु तपस्तपस्पतिः॥40॥

सत्य-धर्म का पालनहारा होता है विद्वान् सदा।

शिष्य और आचार्य परस्पर प्रीति भाव से रहे सदा॥

सत्याचरण-परायण गुरु हो सत्युपदेश सदैव करे।

तपोनिष्ठ हो शिष्य और दीक्षा का पालन सदा करे॥40॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥41॥

पवन तुल्य विद्याविद् विद्वज्जन होते हैं अति गतिमान।

विद्यांगों से पूर्ण सुविस्तृत उन्नत करते हैं विज्ञान॥

विद्युतवत् जल पान करें दुःख दूर करें सब के समान।

हवनादि कर्म-सेवन कर हरदम यज्ञपति-सा बनें महान्॥41॥

अत्यन्यारं ऽ अगां नान्यारं ऽ उपांगामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः।

तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णावे त्वा।

ओषधे त्रायस्व स्वधिते मेनः हिंसीः॥42॥

मूर्ख जनों का छोड़ संग विद्वानों का संग किया करो।

उत्तम से उत्तम छोटे से छोटे को अपनाया करो॥

गुणकारी विद्वान् सभी का हितकारी बन जाता है।

यज्ञ सिद्ध कर दुःख नाश कर सब का रक्षक बन जाता है॥42॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भवा।

अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय।

अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेमा॥43॥

॥इति पञ्चमोऽध्यायः॥

सूर्यप्रकाश न त्यागे ईश्वर, न विद्याप्रकाश त्यागे विद्वान्।
आकाश-नाश करता नहीं ईश्वर, न समय-नाश करता विद्वान्॥
पृथिवी पर छाया है ईश्वर, सत्कर्मों में तू छाया करा।
शत्रु-नाश करता है ईश्वर, ऐश्वर्यों में तू समाया करा॥
पूज्य पुरुष विद्वान् जनों का सदा सभी सम्मान करें।
ऋद्धि सिद्धि ऐश्वर्य प्राप्ति हित गुरुजन का नित मान करें॥
वृक्ष-वनस्पति बहुलांकुरयुत फूलें-फलें दिन-रात बढ़ें।
प्राणिमात्र सौभाग्य युक्त हो मिल-जुल करके साथ बढ़ें॥४३॥

॥ पंचम अध्याय समाप्त॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहः रक्षसां
ग्रीवा ऽ अपिकृन्तामि। यवो ऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारांती दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै
त्वा शुन्धन्तोल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥१॥

पितृवास विद्वान् जगत् में प्राणापान बल वीर्य सहित।

पुष्टि हेतु धारण आकर्षण और ग्रहण करते हैं विहित॥

दुष्ट-दलन और द्वेष हरण कर वैर शत्रु कर अलग-अलग।

व्यवहार-सिद्ध भू-राज्य प्राप्त कर पहचान प्रजा का हर रग-रग॥१॥

अग्नेरीरसि स्वावेश ऽ उन्नेतुणामेतस्य वित्तादधित्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु
सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्नेणास्पृक्ष ऽ आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृहीः॥२॥

सभाध्यक्ष अध्यापकवत् शिक्षित उत्कृष्ट गुणों वाला।

राज्य-पाल सत्सभासदों और गुणी प्रजा का रखवाला॥

प्रजा रहे अनुकूल सुविद्या राजनीति का हो प्रकाश।

धर्मनिष्ठ हो राजनियम दृढ़ से दृढ़तर हो राज्य-विकास॥२॥

या ते धामान्युरमसि गमध्वै यत्र गावो भूरिभृङ्गा ऽ अयासः।

अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि। ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनिं
पर्यृहामि। ब्रह्म दृष्टं क्षत्रं दृष्टायुर्दृष्टं प्रजां दृष्टं॥ ३

राज्योत्कर्ष व सुखी प्रजाजन कैसे हों इसको तू जान।
 चैतन्य कला युत सूर्य किरण की द्युति की महिमा को पहचान॥
 परमपद ज्ञानी विद्वानों की सम्मति का अनुगमन करो।
 ईश-वेद-विज्ञान राज्य-धन-लाभ-ज्ञान संकलन करो॥
 ब्रह्म-क्षत्र-विद्या उन्नत हो स्थिर मति हो तू आयुष्मान्।
 राजधर्म हो दृढ़तर तेरा और प्रजा उन्नत गतिमान्॥३॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत् यतो ब्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥४॥

उस व्यापक कर्ता धर्ता संहर्ता के कर्मों को तू देख।
 उसी तरह तू नियमित होकर लख दोनों पक्षों का विलेख॥४॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥५॥

स्तोता चतुर्वेदवेत्ता जन उसका ध्यान लगाते हैं।
 सूर्य ज्योति में व्याप्त नेत्र-सम सदा परम पद पाते हैं॥५॥

परिवीरसि परि त्वा दैवीविशो व्ययन्तां परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम्।

दिवः सुनुरस्येष ते पृथिव्याल्लोकऽ आरण्यस्ते पशुः॥६॥

राज्यपाल सब विद्याओं में भली-भाँति पारंगत हो।
 विज्ञ-पुत्रवत् प्रजा रहे प्रकाश-पुंजवत् रंगत हो॥
 सूर्यकिरण समुदाय तुल्य तू तेरा पृथिवी पर हो राज।
 हिंसक सिंहादिक रिपु डाकू तेरा नहीं बिगाड़े काज॥६॥

उपावीरस्युप देवान्दैवीविशः प्रागुरुशिजो वह्निमान्। देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥७॥

दिव्य देव दुःख-छेदनकर्ता शरणागत पालक सदृश हो।
 तुम हो प्रजापति धर्म मार्ग रत विद्वद्वत् एतादृश हो॥
 तुम से प्रजा, प्रजा से तुम दोनों ही सुख को पाते हो।
 भोग्य पदार्थ धनादिक पाकर दोनों हर्षित हो जाते हो॥७॥

रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि। ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः॥८॥

हे धनिक-सन्तान तुम विद्या-शिक्षा में रमो।
 हे वेदवाणी-पालक विद्वज्जन न्याय-दीक्षा में जमो॥
 सत्य-धर्म-व्यवहार प्राप्त धन-द्रव्यादिक स्वीकार करो।
 सर्व शास्त्र ज्ञाता बन्धन को काट, बटुक श्रीकार करो॥८॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।

अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता
सगभ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥१॥

सर्वैश्वर्य व वेदप्रकाशक जगदुत्पादक है स्वामी।

सूर्य-चन्द्र-पृथिवी के करवत् धारण-आकर्षण गुण यामी॥

अग्नि-सोम के तेज-शान्ति-गुण से संयुत मैं करता हूँ।

शिष्य तुझे मैं अन्न जलादिक से आपूरित करता हूँ॥

जननी जनक सहोदर भाई मित्र सखा अनुमोद करे।

अग्नि-सोम के तेज-शान्ति-गुण से नित मोद-विनोद करे॥१॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।

सं ते प्राणो वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥१०॥

शोधित जल परिशुद्ध यज्ञ से भोग्य पदार्थों को भोगो।

तन-मन से याज्ञिक बनना विद्या प्रचार से मत भागो॥१०॥

घृतेनाक्तौ पशून्त्रायेथां रेवति यजमाने प्रियं धा ऽ आविंश।

उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्पना यज्ञ समस्य तन्वा भव।

वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥११॥

घृत प्रसक्त हे यज्ञ के लिए गौ आदिक पशुओं को पालो।

अन्तरिक्ष में पवन-शुद्धकर्ता भर-भर हवि को डालो॥

अविचल मन यज्ञ करो और सभी तरह के सुख पाओ।

धार्मिक ज्ञानी पुरुष यज्ञ में आएँ तो उनके गुण गाओ॥११॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्मस्तऽआतानान्वा प्रेहि। घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु॥१२॥

सम्यक् सुख विस्तारक विद्वान् न कुटिल मार्ग अनुगामी हो।

मूर्ख-समान न अभिमानी हो व्याघ्र-समान न हिंसा-कामी हो॥

अन्न आदि सर्वत्र प्राप्त हो और अश्व आदि सवारी हो।

प्यासे को पानी मिल जाए तू सत्यमार्ग का राही हो॥१२॥

देवीरापः शुद्धा वोहद्वस् सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥१३॥

श्रेष्ठ गुणान्वित सत्कर्म प्रवृत्त विद्या-प्रकाश विदुषी जन हों।

योग्य और विद्वान् पति-हित सेवा-तत्पर उनके मन हों॥१३॥

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि॥१४॥

गुरु और गुरुपत्नी दोनों शिष्यों-शिष्याओं को बोध करें।

वाणी प्राण नेत्र श्रोत्र नाभि उपस्थ चरित्र का शोध करें॥१४॥

मनस्तऽआप्यायतां वाक् तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्तऽआप्यायतां श्रोत्रं तऽआप्यायताम्। यतें क्रूरं यदास्थितं ततऽआप्यायतां निष्ट्यायतां ततें शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनः हिंसीः॥१५॥

मन की तृप्ति- प्राण परितृप्ति दृष्टि श्रवणशक्ति सम हो।

दुष्ट-दुरित-व्यवहार दूर हो दृढ़ निश्चय तेरा हरदम हो॥

दिन-प्रतिदिन तेरा शुभ हो अध्यापक तेरा परित्राण करे।

व्यर्थताडना नहीं करे तुझ को अनुपम विद्वान् करे॥१५॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तः रक्षः इदमहः रक्षोऽभितिष्ठामीदमहः रक्षोऽबन्धाधः इदमहः रक्षोऽधमं तमो नयामि। घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऽ ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्॥१६॥

पर-पदार्थ हर्ता राक्षस है ऐसे स्वार्थी को दूर करो।

तिरस्कार कर दुष्टों का उन को झुकने मजबूर करो॥

हे गुणग्राहक शिष्य सूक्ष्म व्यवहारों को निश्चय तू जान।

तेरे यज्ञ-शोधित जल से आच्छादित भूमि सूर्य भगवान्॥

स्वाहाकृत सब स्नेह-द्रव्य सर्वत्र व्याप्त कर दे पवमान।

होमाहुत को ऊर्ध्वनभस में पहुँचाएँ, पाएँ जलदान॥१६॥

इदमापः प्रवहतावधं च मलं च यत्। यच्चाभिद्रोहानृतं यच्च शोपे ऽ अभीरुणम्। आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु॥१७॥

निर्मल जल अनिन्द्य कर्म हो अविद्या मल को दूर करो।

झूठ द्रोह और पाप-शाप तज सबसे पवित्र व्यवहार करो॥१७॥

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। रेढस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा भान्यै पूष्णो रश्मिः ऽ ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः॥१८॥

युद्धवीर मन विद्याबल और प्राण, प्राण के साथ रहे।

तू शत्रुघ्न है क्रोधाग्नि से कोटि सैन्य पर हाथ रहे॥

पवन-तुल्य तू स्वतः संयमित वेगवान बलवान रहे।

अन्न जलादिक शस्त्रास्त्रों से युक्त विपुल खलियान रहे॥18॥

घृतं घृतपावानः पिबतु वर्सा वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा।

दिशः प्रदिशः ऽ आदिशो विदिशः ऽ उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥19॥

अमृत जल पी नीतिमार्ग पर चलने वाले ऐ वीरो।

वीर रसाण्वित वाणी से हुंकार भरो ऐ रणधीरो॥

दसों दिशाएँ काँप उठें ऐसी रचना तुम व्यूह करो।

आकाश न तुम को रोक सके ऐसी सेना का समूह करो॥19॥

ऐन्द्रः प्राणो ऽ अङ्गे ऽ अङ्गे निदीध्यदैन्द्रः ऽ उदानो ऽ अङ्गे ऽ अङ्गे निर्धीतः।

देव त्वष्टर्भूरि ते सःसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।

देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥20॥

शत्रु विदारक दिव्य सैन्यपति चतुरंगिनी रखना सेना।

प्राण उदानवत् ऊर्ध्व गमक वीरों को रण में रख देना॥

विविध रूप युद्धों की अपनी कौशल कला दिखा देना।

तेरे स्वजन विद्वज्जन सबको अपने अनुकूल बना लेना॥20॥

**समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवः सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ
स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दांसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ
स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि
यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ग्योतिः पृथिवीं भस्मनापूण स्वाहा॥21॥**

वाष्पयन्त्र-निर्मित नौकादिक यान से समुद्र-यात्रा कर।

खगोल शास्त्र की विद्या-सिद्ध विमान-यान की यात्रा कर॥

वेद-प्रकाशित सर्वोत्पन्नकर्ता उस परमेश्वर को जान।

शुद्ध-सुसंस्कृत वाणी से प्राण और उदान को जान॥

ज्योतिष विद्या से दिन और रात्रि के गुणों को पहचान।

विज्ञानयुक्त वेदांग-वाणी से ऋग्यजुसामथर्व को जान॥

भूगर्भ-ज्ञान से भूमियान आकाशयान की गति को जान।

संस्कृत-वाणी से अग्निहोत्र, तकनीकी, राजनीति को जान॥

वैद्यक-विद्या से सोमलतादिक ओषधि के गुण को पहचान।

गुणावगुण बोधक जल-विद्या से पानीय जल को पहचान॥

आग्नेयास्त्र कला-यन्त्रों की विद्या से विद्युताग्नि को जान।

सत्य धर्म में प्रीतियुक्त मन का कर तू हरदम आधान॥

यज्ञ-धूम आकाश-व्याप्त हो अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।

काष्ठ-भस्म से पृथिवी ढक दे यज्ञ पूर्ण हो हे यजमान॥21॥

मापो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नो धाम्नो राजैस्ततो वरुण नो मुञ्च।

यदाहुरघ्न्या ऽ इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।

सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥22॥

वणिक्-कर्म अवरुद्धन हो सब जगह सभी को पदार्थ मिले।

गौ आदि पशु का वध न कभी हो राज्य-कर्म विधि-पूर्ण चले॥

निर्मल जल परिशुद्ध ओषधि मित्र-तुल्य हर काल मिले।

वैर द्वेष करने वाले को दुःखादिक तत्काल मिले॥22॥

हविष्मतीरिमा ऽ आपो हविष्मार् ऽ आविवासति।

हविष्मान्देवो ऽ अध्वरो हविष्मार् ऽ अस्तु सूर्यः॥23॥

आदान प्रदान क्रिया से सब को सुख उपकार सदा होता है।

सुखदायक यज्ञों से सब विध प्रत्युपकार सदा होता है॥23॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। अमूर्या ऽ उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥24॥

अविवाहित कन्याएँ विधिवत् अविवाहित वर से विवाह करें।

उत्तम पति को पाकर प्रमुदित घर के काम-काज-निर्वाह करें॥24॥

इदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा। ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥25॥

सुखद पतियों के निकट रह कर अग्निहोत्र को मत त्यागो।

सुनो! इस गृहाश्रम रूप यज्ञ से दूर कभी तुम भागो॥25॥

सोम राजन्विश्यास्त्वं प्रजा ऽ उपावरोह विश्वास्त्वां प्रजा ऽ उपायरोहन्तु।

शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः।

श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञः शृणोतु देवः सविता हवं मे स्वाहा॥26॥

श्रेष्ठ समस्त उत्कृष्ट गुणों से युक्त सदा शासक होवे।

प्रजा-सन्निकट रहकर उनकी रक्षा-हित तत्पर होवे॥

प्रजा पुत्रवत् तेरे आश्रित न्याय उन्हें अनुकूल मिले।

तेरी पत्नी मातृ तुल्य हो स्त्री जन को उससे न्याय मिले॥

सदसत् विवेककर्ता विद्वज्जन सभासदों सबकी सुनो।

यज्ञ-समान इस प्रजा-निवेदन को राजन् तन्मय हो सुनो॥26॥

देवीरापो ऽ अपानपाद्यो व ऽ ऊर्मिर्हविष्य ऽ इन्द्रियावान् मदिन्तमः।

तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा॥27॥

श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त सुकर्मा से प्रदीप्त हे प्रजाजनो!

पारस्परिक सम्मति से गुण युत योग्य एक अधिपति बनो॥27॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्या ऽ उन्नयामि। समापो ऽ अदिभरगमतु समोषधीभिरोषधीः॥28॥

खेती से परिपूर्ण और उत्कर्ष प्राप्त हो वैश्य जनो।

यज्ञ-शोध जल से ओषधि गह सबके तुम परिवेश बनो॥28॥

यमग्ने पृतसु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥29॥

सदैव विवेकी संग्रामों में जनता की रक्षा करते हैं।

अन्नादि प्राप्त कर जन-जन का जीवन-निर्वाह निभाते हैं॥29॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।

आददे रावासि गभीरमिममभ्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्।

उत्तमेन पविनोर्ज्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयन्त मा॥30॥

सर्वैश्वर्य समुत्पादक जगदीश्वर के रस-सार में।

सूर्य चन्द्र के बल व पराक्रम गुण-पोषक इस सार में॥

करदाता का धारण करता शासक नित प्रत्युपकार में।

हित वाणी मधु दुग्ध अन्न दे निष्कपट रहता व्यवहार में॥30॥

मनो मे तर्पयन्त वाचं मे तर्पयन्त प्राणं मे तर्पयन्त चक्षुर्मे तर्पयन्त श्रोत्रं मे तर्पयन्तात्मानं मे

तर्पयन्त प्रजां मे तर्पयन्त पशून्मे तर्पयन्त गुणान्मे तर्पयन्त गुणा मे मा वितृषन्॥31॥

राजा प्रजा सभासद जन की मन वाणी नित तृप्त रहे।

प्राण नेत्र और श्रोत्रात्मा सन्तानादिक परितृप्त रहे॥

गौ गज अश्व आदि पशु सारे मेरे सेवक आतृप्त रहे।

मेरे राज्य कर्मचारी और सेवक कभी न प्रसुप्त रहे॥31॥

इन्द्राय त्वा वेसुमत रुद्रवन्त ऽ इन्द्राय त्वादित्यवन्त ऽ इन्द्राय त्वाभिमातिष्णे।

श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे॥32॥

वसु व रुद्र आदित्य ब्रह्मचर्यादिक व्रत जो धरता है।

वही परम विद्वान् गुणान्वित राज्य-योग्य वर वरता है॥

अभिमानी का गर्व चूर कर शत्रु-विदारण करता है।

धन दृढ़ करता युद्धादिक में श्येन-तुल्य झपटता है॥32॥

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।

तेनास्मै यजमानायोरु रायेकृद्ध्यधि दात्रे बोचः॥33॥

सभाध्यक्ष ऐश्वर्य निमित्त निज राज्य-कर्म में ज्योतिष हों।

यजमानों के यज्ञ पूर्ण हों राज्य-प्रबन्ध विद्योतिष हों॥33॥

श्वात्रा स्थं वृत्रतुरो राधेगूर्ता ऽ अमृतस्य पत्नीः।

ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहृताः सोमस्य पिबता॥34॥

स्त्री हो विदुषी सुख-धन-वृष्टिकर्तृ यज्ञ-सहायिका हो।

विद्वत्पति युत प्रीति परस्पर गृहाश्रम-धर्म विधायिका हो॥34॥

मा भेर्मा सविक्था ऽ ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीह्वी सती वीह्वेथामूर्जं दधाथाम्।

पाप्मा हतो न सोमः॥35॥

शरीरात्मबलयुत पति-पत्नी एक-दूजे से नहीं डरें।

दुःख दोष मुक्त हों, चन्द्रवत् आनन्द शान्ति से बढ़ा करें॥35॥

प्रागपागुदगधराक्स्सर्वतस्त्वा दिश ऽ आधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्॥36॥

वात्सल्यमयी माँ जो तेरी सन्तान निकट हैं अथवा दूर।

वे तुझको जानें और तू भी माँ उन्हें प्यार देना भरपूर॥36॥

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।

न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥37॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः॥

अत्यन्त पराक्रम युक्त ईश-सदृश हे ऋद्धि-सिद्धिदाता।

यथायोग्य व्यवहार करो निज राज्य-प्रबन्ध-बुद्धि-त्राता॥37॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

सात्त्विक भावों की मनोवैज्ञानिक समीक्षा

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी

वरिष्ठ प्रवक्ता

(संस्कृत), कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०)

महाविद्यालय, स्वरूपनगर, कानपुर।

लौकिक मनोविकारों पर आधारित काव्यगत मनोविकार भाव कहलाते हैं। आचार्य भरत ने-

विभावेनाहतो योऽर्थोस्त्वनुभावेन गम्यते।

वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥^१

कहते हुए भावों को विभावों द्वारा निष्पन्न तथा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय रूप अनुभावों द्वारा प्रतीति योग्य माना गया है। भरत के मतानुसार रस का भावन करने वाले भाव हैं। इन्होंने जो नाट्य को 'नानाभावोपसम्पन्न' तथा 'नानावस्थान्तरात्मक'^२ कहा है वह साभिप्राय है क्योंकि नाट्य का साध्य रस है और उसका साधन है भाव। इन भावों के अन्तर्गत स्थायी, संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आ जाते हैं किन्तु परिनिष्ठित रूप से नाट्यशास्त्र में भावों के अन्तर्गत आठ स्थायी भाव तैंतीस संचारी भाव एवं आठ सात्त्विक भावों की गणना की गयी है।^३

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य अश्रु, और प्रलय ये सात्त्विक भाव कहे गये हैं।^४ इनमें जड़ीभूत होकर गति का मन्द हो जाना ही 'स्तम्भ' है। यह शरीर की ऐसी स्थिति है जिसमें अङ्गों में आन्तरिक गति होते हुए भी बाह्य क्रियाशीलता का अभाव पाया जाता है। 'नाट्यशास्त्र' में हर्ष, भय, शोक, विषाद, विस्मय, रोष आदि से ही स्तम्भ की उत्पत्ति मानी गयी है।^५ विश्वनाथ अङ्गों की चेष्टा के प्रतिघात को स्तम्भ कहते हैं। जो भय, हर्ष, रोग आदि के कारण होता है।^६

क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, घात, व्यायाम थकावट के कारण रोमकूपों से जलबिन्दुओं का प्रकट होना 'स्वेद' है।^७ विश्वनाथ के अनुसार-

वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः।^८

इसी प्रकार हर्ष, भय, क्रोध, शीत, आनन्द और विस्मय आदि के कारण शरीरस्थ रोम-समूह का खड़ा हो जाना 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भाव है-

स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः।^९

आचार्य विश्वनाथ एवं रसतरङ्गिणीकार भानुदत्त भी इसी प्रकार की स्थिति को 'रोमाञ्च' की संज्ञा देते हैं।

स्वाभाविक वाणी का परिवर्तित हो जाना 'स्वरभङ्ग' है। यह भय, मद, क्रोध, आनन्दादि

के कारण होता है। आचार्य भरत जरा, रुक्षता, मद्यपानादि को भी स्वरभङ्ग का कारण मानते हैं-
'स्वरभेदो भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः'¹⁰

विश्वनाथ ने इसे 'वैस्वर्य' कहा है।¹¹

'वेपथु' नामक सात्त्विक भाव 'कम्प' भी कहलाता है। शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श जरा और रोग 'कम्प' के कारण कहे गये हैं-

"शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरारोगजः कम्पः।"

विश्वनाथ आचार्य हर्षादि के साथ ही परिश्रम को भी कम्प का कारण मानते हैं-

रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः।¹²

विषाद, क्रोध, मद, भय आदि के कारण मुख या शरीर का वर्ण परिवर्तित हो जाता है। इसे ही 'वैवर्ण्य' नामक सात्त्विक भाव की दशा कहा गया है।¹³ आचार्य विश्वनाथ ने इसे 'विवर्णता' की संज्ञा दी है।

नेत्रों से जल का टपकना 'अश्रु' नामक सात्त्विक भाव है। हर्ष, रोष, दुःख, भय, आनन्द और अमर्ष के कारण तो अश्रु उत्पन्न होते ही हैं। परन्तु कभी-कभी इनकी उत्पत्ति धुआँ लगने, अत्रजन के कारण शीत, रोग, निर्मिमेष देखने तथा जृम्भा के कारण भी होता है। जैसा कि आचार्य भरत ने कहा है-

"आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणभयाच्च।

शोकानिमेषप्रेक्षणशीताद्रोगात् भवेदस्रम्॥"

सुखदुःखातिरेकवशात् किसी वस्तु में तल्लीन होने के पश्चात् होने वाला चेष्टाराहित्य ही 'प्रलय' है। निश्चेष्टता, निष्कम्प, श्वासावरोध आदि इसके लक्षण है।¹⁴ विश्वनाथ ने ज्ञानशून्यता की स्थिति को 'प्रलय' कहा है-'प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः' (साहित्य दर्पण)। इन सात्त्विक भावों को अनुभाव की श्रेणी में भी रखा गया है। दशरूपककार ने स्पष्ट रूप से इन्हें अनुभावों में अन्तर्भूत मान लिया-

'पृथग् भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः',¹⁵

रस के कार्य को काव्य या नाट्य में अनुभाव की संज्ञा दी गयी है। भरत की दृष्टि में वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों के अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ ही अनुभाव हैं।¹⁶ आचार्य धनञ्जय ने कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि विकारों को अनुभाव कहा है क्योंकि ये भावों का भावन कराते हैं। अर्थात् उद्बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करने वाले होते हैं।¹⁷ हेमचन्द्र ने सामाजिक या सहृदय के हृदय में रत्यादि भावों की अनुभूति का माध्यम अनुभावों को ही माना है।¹⁸ रसगङ्गाधरकार स्थायी भावों के पश्चादभावी 'कार्य' रूप दृष्टिगत भावों को अनुभाव कहते हैं।

‘स्थायिभावानां यानि कार्यतयाप्रसिद्धानि तानि अनुभाव शब्देन व्यपदिश्यन्ते।’¹⁹

उक्त रीत्या प्रतिपादित अनुभावों से सात्त्विक भावों का वैशिष्ट्य भी है। जहाँ अनुभाव यादृच्छिक होते हैं वहीं सात्त्विक भाव अयादृच्छिक (Involuntary)। हर्ष, शोक, भयादि के कारण नेत्रों से अश्रुपात होना नितान्त अयादृच्छिक हैं इसी प्रकार रोग, हर्ष, शीत या प्रिय के स्पर्श से शरीर में कम्पन का होना भी इच्छाधीन नहीं है। मनोभाव रूप ये सात्त्विक भाव परिलक्षित होने वाले शारीरिक विकारों द्वारा ही सूचित होते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि समीक्षा की जाये तो सात्त्विक भावों को संवेग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। लैटिन शब्द Emovere से बना अंग्रेजी शब्द Emotion का पर्याय मनोवैज्ञानिक शब्दावली में संवेग है जिसका शाब्दिक अर्थ है- ‘उत्तेजित कराना’। ‘एक जटिल भाव की अवस्था जिसमें कुछ विशेष शारीरिक एवं ग्रन्थीय क्रियाएँ होती हैं’ कहकर इसे परिभाषित किया गया है।²⁰ एक अन्य परिभाषा के अनुसार संवेग से तात्पर्य एक ऐसे आत्मनिष्ठ भाव की अवस्था से होता है जिसमें कुछ शारीरिक उत्तेजन उत्पन्न होता है फिर उसमें कुछ विशेष व्यवहार होता है।²¹ इसी प्रकार संवेग की अन्य परिभाषाएँ भी प्राप्त होती हैं। इस आधार पर सामान्य रूप से संवेग के विषय में कहा जा सकता है कि यह एक जटिल शारीरिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति की उत्तेजनशीलता बढ़ जाता है फलस्वरूप कुछ अन्तस्थ आङ्गिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। अर्थात् हृदय, आँत, फेफड़े ग्रन्थियों आदि में कुछ विशेष प्रतिक्रियाएँ होती हैं। जैसे क्रोध संवेग में रक्तचाप बढ़ जाता है, श्वास-गति तीव्र हो जाती है। मनुष्य अपनी इस अवस्था की बाह्य क्रियाओं द्वारा अभिव्यञ्जना करता है। यह अभिव्यक्ति बाह्य अङ्गों में परिवर्तन लाकर की जाती है। इसी के परिणामस्वरूप क्रोध की अवस्था में व्यक्ति की मुखाकृति में लालिमा, ओष्ठों में कम्पन और भुजाओं में उत्क्षेपादि दृष्टिगत होते हैं। जेम्स लान्जे नामक मनोवैज्ञानिक ने सिद्ध किया है कि व्यक्ति को पहले उत्तेजक तथ्य का ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है, तत्पश्चात् उसमें शारीरिक परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन की अनुभूति के कारण संवेग उत्पन्न होता है। उदाहरण स्वरूप कोई व्यक्ति रीछ देखता है उस प्रत्यक्षीकरण के बाद वह उससे बचने के लिए दौड़ता है। दौड़ने की संवेगात्मक अनुभूति होते ही उसे भय नामक संवेग का अनुभव होता है। नाटक का कलाकार भी जब प्रेम, भय, क्रोध आदि से सम्बंधित अभिनय करता है तब उस प्रकार के अभिनय के कारण भी वह सम्बंधित संवेगों का अनुभव करता है।²²

संवेगों के विषय में एक अन्य सामान्य तथ्य यह भी है कि प्रत्येक संवेग में किसी न किसी प्रकार का भाव अवश्य छिपा होता है। भाव की स्थिति अन्तर्भूत होने की दशा में ही संवेग हो सकता है अन्यथा नहीं। व्यायामादि की स्थिति को संवेग नहीं कहा सकता यद्यपि उसमें भी आङ्गिक परिवर्तन आदि अभिव्यञ्जक व्यवहार होते हैं। उसमें भी रक्तचाप का बढ़ना, मुख लाल होना आदि पाया जाता है, किन्तु उसमें कोई सुखद या दुःखद भाव के न होने से वह संवेग की

अवस्था नहीं कहला सकती।

मनावैज्ञानिकों ने संवेग के प्रकारों की भी व्याख्या की है जिसके अन्तर्गत प्रेम, आनन्द, उदासी, ऊब, डर, क्रोध, ईर्ष्या आदि प्रमुख हैं। इनमें प्रेम (Love or Affection) को एक धनात्मक संवेग (Positive Emotion) माना जाता है। जब एक व्यक्ति के मन में किसी के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है वही प्रेम नामक संवेग की स्थिति है। यह आकर्षण किसी के भी मन में किसी के प्रति हो सकता है। इस अवस्था में व्यक्ति के होठों पर कम्पन, प्रसन्नता, मुस्कुराहट, रोमाञ्च, वाणी में माधुर्यादि परिलक्षित होते हैं। 'हरलॉक' के अनुसार जन्म के पश्चात् छः माह की अवस्था में बच्चों में प्रेम का भाव अङ्कुरित हो जाता है। आनन्द अथवा उल्लास नामक संवेगात्मक स्थिति में व्यक्ति अपनी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हास्य या स्मितहासादि से करता है। यह भी एक धनात्मक संवेग है। किसी प्रिय व्यक्ति या वस्तु से वियोग के कारण जो सांवेगिक प्रतिक्रिया मनुष्य करता है। उसे उदासी या शोक कहा जाता है। बालकों में इस संवेग की स्थिति बहुधा रोने से होती है। लिण्डसे, हॉल तथा थॉम्पसन आदि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वयस्कों में इस संवेग की अभिव्यक्ति किसी कार्य में अभिरुचि की कमी, भूख की कमी, श्वासगति में धीमापन तथा सामान्य वातावरण से स्वयं को पृथक् रखने की प्रवृत्ति के रूप में होती है। फ्रायड ने इस अवधि को 'शोक अवधि' कहा है। कभी-कभी जीवन में अन्यमनस्कता की स्थिति आ जाती है। मनोवैज्ञानिक इस संवेग को ऊब नाम देते हैं। भय भी एक प्रकार का संवेग है। इस स्थिति में प्राणी किसी भयानक परिस्थिति से दूर भागने का प्रयास करता है। इस संवेग की अवस्था में रोना, चिल्लाना, काँपना आदि अभिव्यक्तियों साधारणतया होती है। अन्य संवेगों की भाँति क्रोध एक आन्तरिक अनुभूति है। इसमें प्राणी दूसरे प्राणी या वस्तु के प्रति आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करता है। ईर्ष्या एक जटिल संवेग है। यह डर एवं क्रोध संवेग की मिश्रित अवस्था है। बहुधा यह पाया जाता है कि जब एक बच्चे के माता-पिता उसे स्नेह न देकर दूसरे बच्चे को स्नेह देते हैं तो पहले वाले बालक के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। बच्चों में इस प्रकार के संवेग की अभिव्यक्ति अँगूठा चूसने, तोड़-फोड़ करने, प्रतिद्वन्द्वी को पीटने आदि के रूप में होती है। उपर्युक्त संवेगों के अतिरिक्त जिज्ञासा, आश्चर्य आदि को भी संवेग माना गया है।

इस प्रकार किसी न किसी भाव से पूर्ण संवेग की स्थिति, जो शारीरिक विकार के रूप में परिलक्षित होती है, सात्त्विक भावों से अधिकांश रूप में सामान है। आठों प्रकार के सात्त्विक भावों में सामान्यतया क्रोध, भय, हर्ष, प्रेम, दुःख, विस्मय आदि की स्थिति कारण के रूप में विद्यमान होती है। जिस प्रकार मन के अन्दर किसी संवेग का उत्पन्न होना और बाह्य शारीरिक अभिव्यक्ति के रूप में उसका प्रकट होना ऐच्छिक नहीं है उसी प्रकार सात्त्विक भावों की उत्पत्ति भी इच्छा के अधीन नहीं हो सकती।

अभिनय की दृष्टि से सात्त्विक भाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के अयादृच्छिक

भावों के स्पष्ट प्रकटीकरण में सफल अभिनय ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। नट का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। अभिनय काल में वह प्रयोज्य पात्र के सुख-दुःख को अपनाते हुए चित्त की एकाग्रता से अनुकार्यगत भावों का प्रदर्शन करता है। रस रूप में भाव तभी आस्वाद्य होंगे जबकि उनका सात्त्विक चिह्नों के साथ प्रदर्शन हो। वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों का प्रदर्शन बाह्य चेष्टाओं द्वारा सम्भव हो जाता है किन्तु सात्त्विक अभिनय में शारीरिक चेष्टाओं का मन के भावों के साथ ऐक्य नितान्त अपेक्षित है जो नट के लिए अत्यन्त प्रयत्नसाध्य है। इसे वह एकाग्रता से प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि आचार्य भरत ने अन्य अभिनयों की तुलना में सात्त्विक अभिनय को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अन्य अभिनयों की अपेक्षा जिसमें सत्त्वाभिनय की अतिरिक्तता रहती है वह उत्तम अभिनय माना जाता है। सत्त्व की समानता का स्तर मध्यम अभिनय है तथा जिसमें सत्त्व ही नहीं वह अभिनय अधम है-

तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।

समसत्त्वो भवेन्मध्यो सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः॥²³

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी सात्त्विक के अभाव में अभिनय को अपूर्ण माना है। साक्षात्कारात्मक अनुभूति नाट्य की प्राण है और वह स्तम्भ श्वेदादि के प्रदर्शन से ही आती है। आचार्य भरत ने सात्त्विक भावों के प्रयोग को भी सविस्तार स्पष्ट किया है। जैसे-स्थिर, शून्य एवं शरीर कड़ा करके स्तम्भ का अभिनय किया जायेगा। पंखा झलने, स्वेद के हटाने, वायु आदि के अभिलाष से स्वेद का अभिनय किया जाना चाहिए। अश्रु पोंछना, बार-बार अश्रु टपकना आदि के द्वारा अश्रु नामक सात्त्विक भाव अभिनीत होता है। स्पष्ट है इस प्रकार के अयादृच्छिक भावों का अभिनय नितान्त श्रम-साध्य है। इसी कोटि के अभिनय द्वारा प्रयोक्ता सामाजिक को विगलितवेद्यान्तरात्मक आह्लाद की स्थिति तक ले जाता है।

सन्दर्भ संकेत

1. नाट्यशास्त्र, 1/7

2. नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ नाट्यशास्त्र, 1/109

3.(क) यथा नाराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ नाट्यशास्त्र, 7/8

(ख) त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः।

सात्त्विकास्तु पुनर्भावान् व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः॥ नाट्यशास्त्र, 7/92

4. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरसादोऽथ वेपथुः।

- वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥ नाट्यशास्त्र, 7/93
5. हर्षभयरोगविस्मयविषादमदरोषसम्भवः स्तम्भः। नाट्यशास्त्र, 7/94
 6. स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षाभयादिभिः॥ साहित्यदर्पण, 3/136
 7. क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः।
व्यायामक्लमघर्मैः स्वेदः संपीडनाच्चैव॥ नाट्यशास्त्र, 7/94
 8. साहित्यदर्पण, 3/136।
 9. नाट्यशास्त्र, 7/97।
 10. नाट्यशास्त्र, 7/98।
 11. मदसंमद पीडाद्यैर्वैस्वर्यं गदगदं विदुः। सा0द0 3/138
 12. साहित्यदर्पण, 3/136।
 13. (क) शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजं च वैवर्ण्यम्। नाट्यशास्त्र, 7/96
(ख) विषादमदरोषाद्यैर्वैवर्ण्यत्वं विवर्णता। साहित्यदर्पण, 3/139
 14. स्वरसादो भयहर्षक्रोधज्वररोगमदजनितः।
श्रममूर्च्छामदनद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः॥ नाट्यशास्त्र, 7/98
 15. दशरूपक 4/4।
 16. अथावनुभाव इति कस्मादुच्यते। यदयमनुभावयति नानार्थोभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्त्वैः कृतोभिनय इति। नाट्यशास्त्र, अध्याय 7
 17. दशरूपक, 4/3।
 18. स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनोऽनुभवनमनुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैस्तैरनुभावै कटाक्षभुजाक्षेपदिभिः। काव्यानुशासन, पृ० 68।
 19. रसगङ्गाधर, पृ० 33।
 20. Emotion is a complex feeling state accompanied by characteristic motor or glandular activities.-English & English: A comprehensive dictionary of Psychological and Psychoanalytic terms; 1958, p. 176;
आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, अरूण कुमार सिंह एवं आशीष कुमार सिंह पृ० 413।
 21. By emotion we mean a subjective feeling state involving physiological arousal accompanied by characteristic behaviours. - Baron Byrne & Kantowitz, Psychology; 1980, p. 293; आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, अरूण कुमार सिंह एवं आशीष कुमार सिंह पृ० 413।
 22. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, डॉ. प्रीति वर्मा एवं डॉ. डी० एन० श्रीवास्तव, पृ० 433, 434।
 23. नाट्यशास्त्र, 24/1, 2।

संस्कृतवाङ्मये ज्योतिर्विज्ञानम्

डॉ. श्रीधर मिश्र

संस्कृत विभाग

दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर वि.वि., गोरखपुर

भारतीय ज्ञानराशि की विविध विधाओं के अन्तर्गत भारतीय ज्योतिर्विज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं परम उपयोगी विद्या है। ऋग्वेद संहिता में^१ तैत्तिरीय ब्राह्मण में^२ इस ज्योतिर्विज्ञान का भी वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि नारद ने विविध विधाओं में फलित ज्योतिष का वर्णन किया है।^३ मुण्डकोपनिषद् में भी अपरा विद्या के रूप में चारों वेदों के साथ षडङ्ग में ज्योतिष की भी गणना की गई है।^४ विष्णुपुराण में वर्णित अट्ठारह विद्याओं में ज्योतिष भी एक महत्वपूर्ण विद्या है।^५ इस ज्योतिर्विज्ञान का उपयोग हमारे धार्मिक एवं व्यावहारिक कार्यों के साथ ही साथ सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी सनातन काल से सतत होता आ रहा है। इस ज्योतिर्विज्ञान के कारण संस्कृत साहित्य की महत्ता एवं उपादेयता विश्वस्तर पर है। सूर्यादि ग्रहों एवं आश्विनादि नक्षत्रों के गणित तथा फलित का वर्णन करने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र है जो ज्योतिर्विज्ञान के अर्थ में योगरूढ़ हो गया है। इस ज्योतिष के साथ प्रयुक्त विज्ञान शब्द अपने वैशिष्ट्य का द्योतक है। कूर्मपुराण में ज्योतिर्विज्ञान के विज्ञान शब्द का अर्थ बताया गया है-

विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं पदव्ययम्।

अर्थात् निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्पक और विकार रहित ज्ञान विज्ञान है, यह अनुभव जन्य ज्ञान होता है, इससे भिन्न शास्त्रजन्य ज्ञान होता है। अतः वेद की ही भाँति चक्षुस्वरूप ज्योतिर्विज्ञान भी अपरिवर्तनीय सूक्ष्म एवं निर्मल है।

मानव समाज अपने सभी कार्यों को सकुशल सम्पन्न करना चाहता है साथ ही उस कार्य का उत्तम फल भी। इसके लिए कार्य प्रारम्भ का उपयुक्त समय इस कालविधान शास्त्र ज्योतिष से ही प्राप्त करता है। इस ज्योतिर्विज्ञान के बिना हमारे श्रौत एवं स्मार्त कर्म सिद्ध नहीं हो सकते अतएव जगत् के हित साधन के लिए ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में ही इसकी रचना की।

विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्त कर्म न सिद्ध्यति।

तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा॥^६

विविध प्रकार के यज्ञ एवं अनुष्ठानों के लिए वेद प्रवृत्त हैं और जितने भी वैदिक यज्ञ हैं उनका अनुष्ठान कालाधीन है और इस काल का निश्चय कालविधानशास्त्र 'ज्योतिर्विज्ञान' से होता है अतएव इसी कारण इस ज्योतिर्विज्ञान के ज्ञाता को सर्वज्ञ कहा गया है-

वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद सर्वम्॥^७

यद्यपि ज्योतिर्विज्ञान के अनेक गौण प्रयोजन हैं किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य कालविधान ही है। इस विद्या के द्वारा ही समस्त षोडश संस्कारों का एवं तिथि, नक्षत्र आदि पर निर्धारित दीपावली, विजयादशमी, दुर्गाअष्टमी, जन्माष्टमी आदि सुनिश्चित किये जाते हैं। इस विद्या के काल विधान के आधार पर ही दर्श, पौर्णमास आदि लौकिक, वैदिक यज्ञों एवं महालयादि पैतृक यज्ञों के अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं।

इस ज्योतिर्विज्ञान के प्रवर्तक के रूप में नारद संहिता, काश्यपसंहिता, एवं पराशरसंहिता में ब्रह्मा, सूर्य, वशिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम, लोमश, मरीच, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप एवं पराशर आदि अठ्ठारह प्रवर्तकों के नाम प्राप्त होते हैं। ये सभी भारतीय अमर विभूतियां हैं। इस ज्योतिर्विज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में नारद संहिता में देवर्षि नारद ने कहा है-

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपस्कन्धत्रयात्मकम्।

वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्॥⁸

अर्थात् सिद्धान्त, संहिता और होरा रूप स्कन्धत्रयात्मक अति उत्तम ज्योतिषशास्त्र वेद का निर्मल नेत्र है। नेत्र स्वरूप होने के कारण वेदाङ्गों में इसकी प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है क्योंकि अनेकानेक अंगों से युक्त परिपूर्ण मूर्ति पुरुष यदि नेत्रहीन है तो उसका जीवन शून्य है। अतः ठीक ही कहा गया है-

वेदस्य चक्षुः किल शास्त्रमेतत् प्रधानताङ्गेषु ततोऽर्थजाता।

अङ्गैर्युतोऽन्यैः परिपूर्णमूर्तिश्चक्षुर्विहिनः पुरुषो न किञ्चित्॥⁹

इस ज्योतिर्विज्ञान के प्रथम सिद्धान्त स्कन्ध का लक्षण भास्कराचार्य¹⁰ ने अपने ग्रन्थ के गणित अध्याय में बताया है कि त्रुटिकाल से लेकर प्रलय के अन्तकाल तक की गणना सूर्यादि ग्रहों की चाल, पृथ्वी, नक्षत्र, ग्रहों के स्थान आदि का वर्णन जिस गणित शास्त्र में किया जाता है उसे ज्योतिर्विज्ञान का सिद्धान्तस्कन्ध कहते हैं। इस विज्ञान के दूसरे संहितास्कन्ध का वर्णन करते हुए बृहत्संहिता में वराहमिहिर¹¹ ने कहा है कि सूर्य आदि ग्रहों, नक्षत्रों, सप्तर्षियों आदि के उदय एवं अस्त के द्वारा शुभाशुभ आदि का विचार एवं मानव के सभी व्यावहारिक विषयों का वर्णन जिस संहिता में है इसे संहितास्कन्ध कहते हैं। इस स्कन्ध का दूसरा नाम व्यवहारशास्त्र भी है। इस ज्योतिर्विज्ञान के तीसरे होरास्कन्ध का लक्षण होरा रत्नग्रन्थ में बलभद्रमिश्र¹² ने बताया है कि राशि, भेद, लग्न-ज्ञान, आर्युदाय, ग्रहभावफल आदि नाना फलों का विचार होरास्कन्ध में होता है इस स्कन्ध का दूसरा नाम जातक है। कल्याणवर्मा ने सारावली में होरा का अर्थ करते हुए कहा है कि अहोरात्र शब्द के आदि अकार और अन्त वकार वर्ण को त्याग देने पर होरा शब्द बनता है।¹³

यह मूल ज्योतिर्विज्ञान चार लाख श्लोकों में है। महर्षि शौनक ने कहा है- 'चतुर्लक्षं तु ज्योतिषम्'। फिर भी इस ज्योतिर्विज्ञान के दो ही मुख्य भाग हैं- प्रथम गणित एवं द्वितीय फलित।

वैदिक काल से अद्यावधि इन दोनों भागों का अस्तित्व निरन्तर प्राप्त होता है। इस गणित एवं फलित का सम्बन्ध वाणी और अर्थ की भांति है। गणित वाणी है और फलित अर्थ है। बिना फल के गणित व्यर्थ होता है परन्तु होरा या संहिता किसी का फलित भाग गणित के अधीन होता है बिना गणित के फल पर विचार करना सम्भव नहीं है।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का यह फलित भाग जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसका आधार निमित्त होता है अतः इसे निमित्त शास्त्र भी कहते हैं। फिर भी फलादेश का सबसे प्रबल आधार लग्न होता है अतः कहा भी है-

कैश्चित् कालबलं प्रधानमुदितं कैश्चित् विलग्नं बलं

सिद्धान्ते खलु सारभूतमुदितं लग्न प्रधानं सदा।

लग्नाद् भूत-भविष्य-मध्य तनुजं कालत्रयं ज्ञायते

धात्रा यल्लिखितं ललाटपटले सर्व विद्यते पुमान्।

लग्नमात्मा मनश्चन्द्रः तद्योगात्फल निर्णयः

तस्माल्लग्नं च चन्द्रं च विलोक्य फलमादिशेत्।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार आकाश शून्य नहीं है। अपार क्षेत्र वाले इस आकाश में सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक, नक्षत्रादि स्थित हैं। ऋक्संहिता¹⁴ एवं शतपथ ब्राह्मण¹⁵ के अनेक उद्धरणों से स्पष्ट है कि नक्षत्र चान्द्रमास, सौरमास, मलमास, ऋतुपरिवर्तन, दक्षिणायन-उत्तरायण के साथ-साथ आकाश चक्र में सूर्य की महिमा का तात्त्विक ज्ञान ऋषियों ने हमें प्रदान किया है। यह ज्योतिर्विज्ञान नक्षत्र विद्या भारत से ही विश्व में फैलती गयी, फिर भी भारतीय एवं पाश्चात्यों के ज्योतिर्विज्ञान में थोड़ा सा अन्तर है। सूर्य के संक्रमण के आधार पर राशियों के नाम पर मेष आदि द्वादश सौरमासों को मान्यता दिया गया। पूर्णचन्द्र की अर्थात् पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र विशेष के पास चन्द्रमा को देखकर चान्द्रमासों का ज्ञान हुआ। जैसे चित्रा से चैत्र, विशाखा से वैशाख आदि नामकरण किया गया। पाश्चात्य देशों में भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का प्रकारान्तर से जो भी प्रसार-प्रचार हुआ वही उसके एतद्विषयक ज्ञान का मूल था, पाश्चात्यों ने भारतीय ज्योतिर्विज्ञान से तो दिनों के नामकरण को तो ग्रहण किया जो रवि, चन्द्र, भौमादि के नाम से आबद्ध था परन्तु महीनों का नाम अवैज्ञानिक ढंग से रखा। अतः जनवरी-फरवरी आदि का सम्बन्ध सूर्य, चन्द्र की गति से नहीं है। अतः पाश्चात्यों की मास एवं वर्ष की गणना अनर्गल सा है और भारतीय नक्षत्र विद्या ज्योतिर्विज्ञान की शैली सर्वथा पूर्ण एवं वैज्ञानिक है।

पाश्चात्यों ने चन्द्र के स्थान में पृथ्वी को ग्रह माना है और राहू-केतु को छोड़कर यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो इन तीनों ग्रहों को मिलाकर कुल दस ग्रह मान्य हैं। अतः ग्रहगति के विषय में भी भारतीय एवं पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञान के गणना में अन्तर है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में केतु अर्थात् पुच्छल ताराओं का वर्णन आता है उन्होंने शुभकेतु और घूमकेतु नाम से दो किया है।

दर्शनीय, शोभनीय सीधे, छोटे और श्वेत वर्ण के केतु को शुभकेतु नाम दिया है और इसके विपरीत स्वभाव वाले देखने में अशुभ को घूमकेतु कहा है।

संस्कृत साहित्य के वृहत्संहिता में उल्काओं के विषय में जो वर्णन प्राप्त होता है वह आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। वराहमिहिर ने द्विलोक से फलोपभोग करके गिरने वाले लोक के नाम से पुकारा है जबकि पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने उन्हें निहारिका पुंज के रूप में माना है। इसका कारण भारतीय दृष्टिकोण का आध्यात्मिक होना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण होने के कारण भारतीय मनीषा को ज्योतिर्लोकों में भी धर्म तत्व की चमक दिख पड़ी है। पुराकाल से दृष्ट एवं अनभूत होने के कारण हमारा यह ज्योतिर्विज्ञान सर्वथा पूर्ण है। ज्योतिर्लोक में अर्थात् आकाश में होने वाली प्रमुख घटनाओं के विषय में भारतीय गणना अत्यन्त सटीक उतरती है परन्तु पाश्चात्य विज्ञान जड़वादी है और सर्वत्र जड़बुद्धि की प्रधानता को द्योतित करता है। अतः पाश्चात्यों का ज्योतिर्विज्ञान सर्वथा अपूर्ण है और संस्कृत वाङ्मय का भारतीय ज्योतिर्विज्ञान धार्मिक जीवन के लिए परम उपयोगी है। अतः मानव जीवन में संस्कृत ज्योतिर्विज्ञान की महिमा असीम एवं अपार है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है-

यथाशिखामयूराणां नागानां मणयो यथा।

तथा वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्ध्नि स्थितम्॥ नारद संहिता: एक

1. ऋग्वेद संहिता 2.3.22.164
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.4.6
3. छान्दोग्योपनिषद् 7.1.2
4. मुण्डकोपनिषद् 1.5
5. विष्णुपुराण 3.7.28-29
6. नारद संहिता, अध्याय: एक
7. विष्णुधर्मोत्तर पुराण 2.174
8. नारद संहिता 1.4
9. वृद्धवसिष्ठ-सिद्धान्त मध्यमाधिकार श्लोक 8
10. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेद: क्रमा....
सिद्धान्त: स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्ध प्रबन्धे बुधैः॥ भास्कराचार्य: सिद्धान्त शिरोमणि।
11. वराहमिहिर : वृहत्संहिता 1-21।
12. बलभद्र मिश्र : होरा रत्न
13. कल्याण वर्मा : सारावली 2.2-9
14. (अ) अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥ ऋक्० 1.24.10

(ब) अप त्वे तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।

सूराय विश्वचक्षसे॥ ऋक्० 1.50

(स) चित्रं देवानामुदनादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ऋक्० 1.115

(द) पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षकर आहुरर्पितम्॥ ऋक्० 1.164.12

15. शतपथ ब्राह्मण 2.1.3.1.3

वेद की पहेलियों का वैज्ञानिक अर्थ

डॉ० हरिहर प्रसाद

(अवकाश प्राप्त प्रोफेसर गणित, पंतनगर)

44, न्यू आवास विकास कालोनी

बेतिहाता दक्षिणी गोरखपुर

वेद के मंत्रों में गूढ़ अर्थ भरे होते हैं। इन मंत्रों में प्रकृत, जीव, संसार में घटित हो रहे, जटिल परपञ्चों का वर्णन मिलता है। तथ्यों को प्रकट करने की वेद की अपनी शैली है। कुछ मंत्रों में तथ्यों को गुप्त और रहस्यमय रूप से प्रकट किये जाते हैं जिन में पहेलियों का प्रयोग होता है। इन पहेलियों के अध्ययन और उन पर अनुसंधान से उनमें छिपा तथ्य और उनका अर्थ या समाधान विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न निकलता है। उनके अर्थ अध्यात्म से सम्बन्धित या कोई वैज्ञानिक रहस्य या संसार में हो रहे किसी जटिल घटना को दर्शाते हैं। एक पहेली में कई तथ्य छिपे हो सकते हैं। इस पत्र में वेद के कुछ पहेलियों में विज्ञान से सम्बन्धित रहस्य समझने का प्रयास किया जायेगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार प्रकाशित शोध पत्रिका, मई जून 2008 दीक्षांत समारोह विशेषांक में एक शोध पत्र शीर्षक 'ऋग्वेद की पहेलियाँ' लेखक डॉ० योगेश शास्त्री गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार प्रकाशित है। इन पहेलियों का समाधान निकाला गया है। प्रत्येक पहेली के एक से अधिक समाधान निकाले गये हैं जो बहुधा अध्यात्म से सम्बन्धित हैं या पृथ्वी या ब्रह्माण्ड में घटित हो रहे घटना के सम्बन्ध में हैं। इस पत्र में इन पहेलियों के समाधान, विज्ञान से सम्बन्धी विशेष कर गणित या भौतिक विज्ञान के क्षेत्र के किसी रहस्य से होंगे।

यथा-

‘एक दूसरे के शिशु को दूध पिलाती दो माताएं’

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।

हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सपर्णाः॥ यजु 33/5

अर्थात्-

विभिन्न रूपों वाली काली गौरी दो माताएं हैं। वे शुभ उद्देश्य लेकर आवागमन करती हैं, एक दूसरे के शिशु को दूध पिलाती हैं। गौरी माता का पुत्र हरि है, जो कृष्णा माता में स्वधावान् (अन्नवान्) होता है। कृष्णा माता का पुत्र सुवर्चाः शुक्र है, जो गौरवर्ण माता में स्वधावान् होता है। ऊपर वर्णित पत्रिका में लेखक ने दो घटनाओं जो अंतरिक्ष और पृथ्वी पर हो रहे हैं पर आधारित इस पहेली का समाधान किया है। ‘विज्ञान के क्षेत्र में अनेकों ऐसे शोध हैं जो ऊपर के पहेली पर आधारित हैं। माना गणित और भौतिक विज्ञान दो माताएं हैं। गणित का रूप काला है क्योंकि यह

बहुत ही क्लिष्ट विषय है इसको पढ़ने से लोग भागते हैं।

गणित विषय में कई शाखाएँ हैं जो गणित के पुत्र हैं और गौरवर्ण के हैं क्योंकि उनके सूत्र के प्रकाश से विज्ञान, जैसे भौतिक, क्षेत्र की जटिल समस्याएँ और प्रश्न हल किये जाते हैं अर्थात् गणित की इन पुत्रों को भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञान जो गौरी रूप की हैं दूध पिलाती हैं। अगर ये मातायें दूध न पिलातीं अर्थात् उनका उपयोग न करती तो गणित के ये विषय बेकार सिद्ध होते और अपनी मौत मर जाते। इस कथन का सत्यापन उपस्थित सत्य उदाहरण से किया जा रहा है। एक गणितज्ञ रिमान ने एक व्यापक ज्योमेट्री का अविष्कार किया जिसको रिमैनियन ज्योमेट्री कहा जाता है। प्रारम्भ में इस ज्योमेट्री की कोई उपयोगिता नहीं थी, दूसरे वैज्ञानिक रिमन को मूर्ख बनाते थे और उसके इस अविष्कार का उपहास उड़ाते थे। बाद में भौतिक विज्ञान के महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ने अपना शोध 'व्यापक सापेक्ष का सिद्धांत' : **GENERAL THEORY OF RELATIVITY** का अविष्कार किया जिसको **आइन्सटीन** ने रिमैनियन ज्योमेट्री की सहायता से किया। अगर रिमैनियन ज्योमेट्री न होता तो आइन्सटीन सापेक्ष सिद्धांत का अविष्कार नहीं कर पाता। इस प्रकार माता गणित, भौतिक विज्ञान के शिशु 'सापेक्ष सिद्धांत' को दूध पिलाती हैं और माता, भौतिक विज्ञान, माता गणित के शिशु 'रिमैनियन ज्योमेट्री' को दूध पिलाती है। भौतिक विज्ञान का रूप गौरी है क्योंकि इसी विज्ञान ने बिजली, प्रकाश और अन्य उपयोगी वस्तु प्रदान किया। लोग इस विज्ञान को पसन्द करते हैं।

दस युवतियों का एक पुत्र

दशमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासी युवतयो विभृत्रम्।

तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमान परिषीं नयन्ति॥ ऋ 1/95/2

आलस्य रहित दस युवतियाँ अपने पति त्वष्टा द्वारा गर्भस्थ एक पुत्र को जन्म देती हैं जो सब के धारणा करने योग्य है। तीक्ष्ण, यशस्वी विरोचमान उस पुत्र को वे युवतियाँ जन जन के पास ले जाती हैं।

शोध पत्रिका में इस पहली का समाधान दिशापरक व्याख्या से या अध्यात्म में इन्द्रिय शक्तियाँ और यज्ञ के सहायता से किया गया है। यहाँ गणित विज्ञान में इस पहली का समाधान दिया जा रहा है। 0,1,2,3,4,5,6,7,8,9ए दस युवतियाँ हैं। यज्ञ अर्थात् संगतिकरण अर्थात् जोड़ त्वष्टा है। संख्या पद्धति में केवल इतने ही मूल अंक हैं जिसे नाभिकीय परिवार की संज्ञा दी जा सकती है। ये अंक संगति की सहायता से एक पुत्र दिये। जिसका नाम 10' दस: रखा गया है। यह पुत्र यशस्वी और सब के धारण योग्य हैं क्योंकि यह पुत्र 10, अपने माता युवतियों की सहायता से $10, 10^2, \dots, 10^y, \dots$ इत्यादि, अन्य अंकों को जन-जन को प्रदान करता है। ये संख्यायें मनुष्य प्राणी के लिये अत्यंत लाभकारी है जिसका वर्णन यजुर्वेद के अध्याय 17 मंत्र 2 में भी किया गया है। त्वष्टा, यज्ञ, शून्य, एक से लेकर 9 तक दस युवतियाँ और पुत्र '10, :दस:' यह परिवार पूरे संख्या

पद्धति का निर्माण करते हैं। जिसका लाभ जन-जन को मिलता है।

वत्स माताओं को उत्पन्न करती है

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृजनयत स्वधाभिः।

वह्नीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्नियचरति स्वधावान्॥ ऋ. 1.95.4

तुम में से कौन इस गुह्य रहस्य को जानता है? वत्स अपनी शक्तियों से माताओं को उत्पन्न करती है। उन बहुत सी माताओं का गर्भभूत से वह वत्स स्वयं भी उनके गर्भ से बाहर निकल आता है। वत्स का परिचय यह है कि वह बहुत ही महान् है, कवि तथा शक्तिशाली और आत्मनिर्भर है।

माता पुत्र को जन्म देती है परन्तु इस पहली में कहा गया है कि पुत्र माताओं को उत्पन्न करता है। इसमें पहली में एक चमत्कार आ गया है और यह पहली प्रकृत के किसी गुह्य घटना का संकेत देती है। एक साधारण प्रश्न बहुधा पूछा जाता है कि पहले मुर्गी है या अण्डा। वास्तव में प्रकृति में सभी घटनाओं में एक चक्र है। प्रकृत के किसी भी वस्तु से प्रारम्भ करते हैं तो चलते-चलते फिर उसी वस्तु पर पहुँच जाते हैं। भौतिक शास्त्र में ऐसी घटनाओं के कई उदाहरण हैं। संसार के वस्तुओं के गुण वाचक छः खण्ड किये गये हैं। चुम्बक, बिजली, ध्वनि, प्रकाश, ताप तथा कुछ साधारण गुण जैसे मात्रा ऊर्जा, कार्य। चुम्बक बिजली को उत्पन्न करती है और फिर बिजली चुम्बक बनाती है। वास्तव में भौतिक सिद्धांत के अनुसार ये गुण वाचक वस्तुयें एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं, सभी शक्तिशाली हैं, अपने में महान् हैं और स्वतंत्र रूप में अपना कार्य करते हैं। यह पहली बहुत शिक्षाप्रद भी है। संसार में किसी भी स्थिति में एक जैसी स्थिति नहीं होती। ऐसी ही प्रकृति का नियम है, क्योंकि चक्र तो चलता ही रहता है, केवल बुद्धि, शक्ति, आत्मविश्वास ऐसे गुणों का सृजन करना है। किसी भी उत्पन्न परिस्थिति को अपने शक्तियों से बदल कर पुरानी परिस्थिति फिर प्राप्त की जा सकती है। ऐसी इच्छा शक्ति का सृजन हर व्यक्ति को करना चाहिए। वेद के इस पहली का एक गुह्य रहस्य यह भी है।

संसार में आरम्भ है ही नहीं। वेद बताता है कि एक परम शक्ति 'ओम्' ने अपनी इच्छा शक्ति से सृष्टि को प्रारम्भ कर दिया। एक घटना बार-बार उत्पन्न होती रहती है और आगे की घटना को जन्म देती रहती है। ऐसा चक्र चलता ही रहता है और प्रलय में इस का अंत हो जाता है। सृष्टि का निर्माण हुआ तो प्रलय भी होना है, प्रलय के बाद सृष्टि का निर्माण होना है। यह चक्र भी अनिवार्य है। सृष्टि रचना और प्रलय में एक माता और दूसरा वत्स है।

वेद की यह पहली संसार में घटित हो रहे तमाम घटनाओं को ही बताती है। शोधकर्ता चक्र की अनिवार्यता मानकर सम्भावित वस्तुओं पर शोधकार्य कर सकते हैं।

आकाश के मध्य में स्थित पाँच नैल

अभी ये पञ्चक्षणे मध्ये तस्थुर्महो दिवः।

देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना नि वावृर्तिनं में अस्य रोदसी। ऋ 1; 105; 10

पांच बैल (उक्षणः) महान् द्युलोक के मध्य में स्थित है। वे उसके पास जो देवों में प्रशंसनीय है एक साथ आते हैं तथा फिर लौट जाते हैं। द्यावापृथिवी 'अर्थात् द्यावापृथ्वी-वासी समस्त स्त्री पुरुष मेरी इस पहेली को बताओं?

इंगित पत्रिका में इस पहेली का समाधान आध्यात्मिक दृष्टि से और नक्षत्र विद्या-परक व्याख्या किया गया है। यहाँ विज्ञान दृष्टिकोण से व्याख्या किया जा रहा है। एक वैज्ञानिक के लिये विज्ञान जगत ही उसका द्युलोक है। प्राणियों में मनुष्य देव है और इन देवों में प्रशंसनीय देव वैज्ञानिक है। विज्ञान जगत् में इसके मुख्यतः पाँच शाखाएँ हैं, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान और गणित विज्ञान, पाँच बैल 'उक्षणः' विज्ञान जगत् के मध्य में स्थित हैं। वे वैज्ञानिक के पास जाते हैं। वैज्ञानिक उनका आदर करते हैं। उनसे यथोचित सेवा लेता है। वे बैल वैज्ञानिक के पास आते-जाते रहते हैं।

छह लोकों को धारण करने वाला अज

अचिकेत्वाञ्चिकितुषश्चिद कवीन पृच्छामि विद्यने न विद्वान्।

वि यस्तस्तम्भ षडिमा रंजास्यजस्य रूपे किमपि स्वदेकम्॥ ऋ 1 164:6

अज्ञ मैं विज्ञ मनीषियों से एक प्रश्न पूछता हूँ सचमुच में ज्ञानवर्धन के लिए पूछ रहा हूँ विद्वान् बन कर नहीं। मैंने सुना है कि अज (बकरे का रूप धारण किये हुए कोई एक जिस ने इन छः लोकों (रंजासि) का भार उठाया हुआ है वह कौन है।

विज्ञान क्षेत्र में भी इस पहेली का समाधान है। एक पदार्थ बेनजीन (C_6H_6) है जो बहुत उपयोगी है और दवाओं में प्रयोग होता है। इस पदार्थ के अणु में छः कार्बन के परमाणु और छः हाइड्रोजन के परमाणु होते हैं इसलिए विज्ञान क्षेत्र में इसे C_6H_6 लिखा जाता है। प्रारम्भ में C_6H_6 के अणु की बनावट ढूँढ़ने में वैज्ञानिक को बड़ी कठिनाई थी कि छः कार्बन परमाणु और छः हाइड्रोजन परमाणु किस प्रकार संयोग कर के एक अणु बनते हैं। इसके बनावट के बारे में एक रोचक घटना का वर्णन किया जाता है। एक वैज्ञानिक कैकुले जिसने बेनजीन अणु की बनावट का अनुसंधान किया, एक बार एक स्वप्न देखा कि छः सुन्दरियाँ अपना-अपना हाथ एक दूसरे से मिलाकर एक गोलाई में घूम रही हैं और वह केन्द्र में खड़ा है। इस स्वप्न से कैकुले ने बेनजीन अणु की बनावट ढूँढ़ निकाला। हाइड्रोजन के परमाणु में एक इलेक्ट्रान चक्कर लगाता है और कार्बन के परमाणु में चार इलेक्ट्रान चक्कर लगाते हैं। इन चक्कर लगाते हुए इलेक्ट्रानों का हिसाब ठीक करते हुए बेनजीन अणु की बनावट इस प्रकार बनी है, एक षट्भुज है।

षट्भुज के छः कोने पर छः कार्बन परमाणु बैठ गये। कार्बन के एक-एक इलेक्ट्रान हाइड्रोजन के एक इलेक्ट्रान से बँध गये। कार्बन के दो-दो इलेक्ट्रान बगल के कार्बन परमाणु के इलेक्ट्रान से बंध गये। छः कार्बन परमाणु के एक-एक शेष इलेक्ट्रान षट्भुज के केन्द्र में एक गोले में चक्कर

करते रहते हैं और इस गोले को शेक्सपेट, XETET, कहते हैं।

ऊपर की पहली पर ध्यान देने से यह सहज में समझा जा सकता है कि बीच का गोला, शेक्सपेट, अज है और इसके कोने में CH छः लोक हैं जिन्हें केन्द्र के अज शेक्सपेट ने संभाल रखा है। सम्भवतः वेद की इस पहली पर अगर वैज्ञानिक कैकूले का ध्यान गया होता तो अवश्य ही उस ने बेनजीन के अणु के बनावट को ढूँढ़ लिया होता। उसे स्वप्न की आवश्यकता ही नहीं होती। विज्ञान क्षेत्र में और भी समाधान ढूँढ़ा जा सकता है और इस पहली का व्यापीकरण भी किया जा सकता है। व्यापीकरण का मतलब है कि अज एक, दो या कई लोकों को, छः या छः से अधिक लोकों को धारण कर सकता है। एक अज अर्थात् एक वैज्ञानिक अपने विषयों के छः शाखाओं में शोधकार्य कर रहा है और करा रहा है अर्थात् छः लोकों का भार उठाया हुआ है, छः लोक से कम या अधिक भी हो सकता है। रसायन विज्ञान में कई पदार्थ, अणु हैं जहाँ एक-दूसरे अव्ययों के कई परमाणुओं को धारण करके पदार्थ बनाते हैं। परन्तु ऊपर के मंत्र में सम्भवतः छः लोक किन्हीं विशेष वस्तुओं को ध्यान में रखकर कहा गया है।

गर्भ में वत्स को लिए गौ उड़ रही

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं विभ्रती गौरुदस्थात्।

सा कद्रीची कं स्विदर्थ परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ ऋ 1:164:17

एक गौ है, उसके गर्भ में वत्स है। आगे के पैरों को पीछे मोड़कर और पीछे के पैरों को आगे मोड़कर उदरस्थ वत्स को दबाये हुए वह गौ उड़ रही है। गर्भ भार के कारण गति मंथर है। मंथर गति वाली वह भला कितना सा मार्ग पार कर सकेगी। थोड़ी दूर जाकर वत्स को जन्म देगी। पर कहाँ जनेगी। इतना अता पता ध्यान रखिए कि पशुओं के यूथ में नहीं जनेगी।

इस पहली की कई व्याख्याएँ हो सकती हैं। विज्ञान क्षेत्र में कई व्याख्याएँ हो सकती हैं। यहाँ दो व्याख्याएँ दी जा रही हैं।

1. किसी शोधकर्ता के पास एक प्रश्न है जिसका हल शोधकर्ता ढूँढ़ रहा है। प्रश्न गौ है। प्रश्न का हल गौ कि वत्स है। अभी हल प्रश्न के गर्भ में है। प्रश्न शोधकर्ता को भ्रमित कर रही है, कभी-कभी शोधकर्ता प्रश्न पर ही प्रश्न ही खड़ा करता है। जब तक प्रश्न भ्रमित कर रही है तब तक वह शोधकर्ता के दिमाग में उड़ रही है। शोधकर्ता हल के पास पहुंचने लगता है तब प्रश्न के भ्रमित करने की गति मंथर होने लगती है समाधान अर्थात् हल निकल गया अर्थात् वत्स का जन्म हो गया। यह आवश्यक नहीं कि प्राप्त समाधान प्रश्न कि क्षेत्र का हो।

2. गणित के क्षेत्र में एक समाधान:- $\frac{y^2 - r^2}{y - r}$

इस बीजगणितीय फलन में य एक चल संख्या है और र कोई ज्ञात संख्या है। एक साधारण

उदाहरण लेते हैं, $\frac{y^2-r^2}{y-3}$ के य स्थान पर कोई भी संख्या रखें उसी के हिसाब से फलन का मान

भी मिल जायेगा। परन्तु य का मान 3 लेने पर इस फलन का कोई मान नहीं निकलता है।÷ मिलता है जो अर्थ हीन है। परन्तु गणितज्ञ इस फलन का मान 6 लेते हैं अर्थात् (2 र) जो तर्कसंगत लगता है। यदि य का मान 3 के निकट कोई संख्या लेते हैं जैसे 2.9, 2.99, 2.99...., 30001, 300001, 3.000001.....

अर्थात् उसे कुछ कम या अधिक तो फलन का मान भी 5.9, 5.99, 5.999 या 6.001, 6.0001, 6.00001 आता जाएगा। 3 और 3 के निकट ली गयी संख्या का अंतर कम करते हुए फलन का मान 6 के जितने निकट चाहे हम निकाल सकते हैं गणित भाषा में कहा जाता है कि

पहेली पर ध्यान रखते हुए कह सकते हैं कि एक गौ है जिस के गर्भ में य=3 पर इस फलन का लिया गया मान 6 इस की वत्स है। जब तक यह मान मिल नहीं जाता गौ मंथर गति से उड़ रही है क्योंकि वत्स 6 को प्राप्त करने अर्थात् 6 का जन्म देने में 3 के निकट दांये या बायें गति मंथर है। 3 से कुछ अधिक या कम संख्या को गणित भाषा में 3 के दांये या बायें की संख्या कहते हैं। वत्स 6 बीजगणितीय फलन नहीं है अर्थात् वत्स दूसरे यूपी का है।

एक वृक्ष पर बैठे दो सुन्दर पक्षी

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ ऋ 1:164:20

सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं जो साथ-साथ रहते हैं, एक दूसरे के सखा हैं, समान वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फलों का भक्षण नहीं करता है।

जो पक्षी फल खाता है वह उपभोक्ता संस्कृत दर्शाता है, और जो पक्षी केवल दृष्टा है और फल नहीं खाता है वह वैराग्य की शिक्षा देता है। संसार में दोनों विचारधारा सदा विद्यमान हैं। वैदिक संस्कृत में प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के अंतिम दिनों में, 75 साल के ऊपर की अवस्था में संन्यास ग्रहण करना है और सांसारिक भागों से विरक्त रहना है। वेद के इस पहेली में यही शिक्षा दी गयी है कि सन्यासी को अन्य लोगों के भोग का केवल द्रष्टा रहना है और स्वयम् विरक्त।

2. एक वैज्ञानिक अपने अनुसंधान से कोई उपयोगी खोज करता है जिसका लाभ संसार के अन्य लोग भोगते हैं; कभी-कभी अपने स्वार्थ के लिए उस खोज का अनुचित लाभ भी लेते हैं जैसे कि वैज्ञानिक **मैडम क्यूरी** का परमाणु विखण्डन का आविष्कार। वैज्ञानिक केवल द्रष्टा बना रहता है और इसी खोज के विश्लेषण में लीन रहता है और दूसरे लोग उसका लाभ उठाते हैं।

महाकवि श्री हर्ष का आयुर्वेदीय ज्ञान

डॉ० पुष्पा मलिक

रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

भगवानदीन आर्य कन्या स्ना० महाविद्यालय, लखीमपुर खीरी

महाकवि श्री हर्ष उच्चकोटि के विद्वान् अलौकिक मेधा सम्पन्न एवं अनुपम पाण्डित्य से युक्त महाकवि हैं। उनके द्वारा विरचित 22 सर्गात्मक नैषधीयचरित महाकाव्य में उनकी विद्वत्ता सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनका यह काव्य उनके पाण्डित्य का पर्याय बन गया है एवं यह उनके समस्त विषयों के ज्ञान का परिचायक है। इसके सत्रहवें सर्ग के अन्त में “साहित्यविद्याधरी” नामक टीका के रचयिता विद्याधर ने श्री हर्ष के नैपुण्य एवं उनकी बहुशास्त्रज्ञता के विषय में उचित ही कहा है-

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो।

वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि॥

नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ।

व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

उनके पाण्डित्य को देखकर ही सुशील कुमार दे ने उनके विषय में ये विचार प्रस्तुत किये-“इसे तो मानना ही पड़ेगा कि नैषधीयचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है और किसी व्यक्ति को उस समस्त ज्ञान से पूर्ण सुसज्जित होकर ही इसमें प्रवेश करना चाहिए।”

नैषधीयचरित में अनेक स्थानों पर उन्होंने अपनी ही भारती का परिचय दिया है, उदाहरणस्वरूप प्रथम सर्ग में नल की विद्या के वर्णन प्रसंग को लिया जा सकता है-

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताऽङ्गगुणेन विस्तरम्।

अगाहता ऽऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥²

अर्थात् नल की जिह्वा के अग्रभाग में नर्तकी के समान विद्या (वेदादिविद्या अथवा पाक विद्या) ने त्रयी के समान शिक्षा आदि छः अङ्गों की गुणन क्रिया से वृद्धि को प्राप्त करायी जाती हुई नल की अट्ठारह द्वीपों की पृथक्-पृथक् विजयलक्ष्मियों को जीतने की इच्छा से अट्ठारह संख्या को प्राप्त किया।

इस प्रकार श्रीहर्ष अट्ठारह विद्याओं में निष्णात थे। इनके महाकाव्य में वेद, वेदाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, जन्तु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, रसायन विज्ञान, सङ्गीतशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र,

नाट्यशास्त्र, राजनीति, कला, पाकविज्ञान, शकुनशास्त्र आदि से सम्बद्ध अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। जहाँ तक आयुर्वेद का सम्बन्ध है, श्रीहर्ष ने आयुर्वेद में कथित उपचारों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख अपने महाकाव्य में किया है, जो उनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का परिचायक है।

नैषधीयचरित में प्राप्त आयुर्वेद से सम्बद्ध उदाहरणों के प्रतिपादन से पूर्व आयुर्वेद के विषय में संक्षिप्त जानकारी अनिवार्य है। आयुर्वेद शब्द दो शब्दों के संयोग से निर्मित है-आयु तथा वेद। इनमें से आयु शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-एति गच्छति इति आयुः अर्थात् जो निरन्तर गतिशील रहती है, उसे आयु कहते हैं। अमरकोष में जीवितकाल को आयु कहा गया है-आयुर्जीवितकालः।¹

चरक संहिता में शरीर (physical body), इन्द्रिय, (senses), सत्त्व (psyche) एवं आत्मा (soul) के संयोग को आयु के रूप में परिभाषित किया गया है-

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।।²

‘वेद’ शब्द का अर्थ है ज्ञान। अतः आयुर्वेद शब्द का सामान्य अर्थ है आयु का विज्ञान (Science of Life) तथा आयुर्वेद वह शास्त्र है, जिसमें आयु से सम्बन्धित सर्वाङ्ग ज्ञान का वर्णन किया गया है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद की परिभाषा इस प्रकार दी है-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।³

अर्थात् आयुर्वेद वह शास्त्र है, जिसमें हितायु, अहितायु, सुखायु एवं दुःखायु इन चारों प्रकार की आयु के लिए क्या हितकर है, क्या अहितकर है, आयु का मान और स्वरूप क्या है, इत्यादि का वर्णन किया गया है।

सुश्रुत के अनुसार मानव आयुर्वेद शास्त्र के द्वारा आयु के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है, अतः इसका नाम आयुर्वेद है-

आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा ऽऽयुर्विन्दन्ति इत्यायुर्वेदः।⁴

आयुर्वेद द्वारा व्यक्ति आयु के विषय में हित, अहित, द्रव्य तथा गुण एवं कर्म को जानकर और उनका सेवन व परित्याग करके आरोग्ययुक्त, स्वास्थ्यलाभपूर्वक आयु को प्राप्त करता है और दूसरों की आयु का भी ज्ञान प्राप्त करता है।

आयुर्वेद साहित्य में आयुर्वेद के दो ही प्रयोज निर्दिष्ट हैं-स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी व्यक्ति को रोग से मुक्त करना। चरक संहिता में आयुर्वेद का प्रयोजन इस प्रकार किया गया है-

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च।

आचार्य सुश्रुत ने भी आयुर्वेद के यही दो प्रयोजन बताये हैं। अब प्रश्न उठता है कि स्वस्थ व्यक्ति कौन है? स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण करते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया है-

समदोषः समाग्निश्च समघातुमलकियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥⁷

अर्थात् उसी व्यक्ति को स्वस्थ कहा जाता है, जिसमें वाताददोष, अग्नियाँ, रसादि सातों धातुएँ सम अवस्था में हों, मल मूत्र का विसर्जन निर्बाध रूप से हो रहा हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों।

महाभारत में श्रीकृष्ण के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण करते हुए कहा गया है-

शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजञ्शरीरजाः।

तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयस्त्वात्मगुणाः स्मृता।

तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥⁸

महाकवि श्रीहर्ष आयुर्वेद के प्रकाण्ड ज्ञाता थे, उनका यह ज्ञान उनके नैषधमहाकाव्य में अनेकत्र स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आयुर्वेद के शरीर प्रमुख विषय है। चिकित्साशास्त्र में सिद्धहस्त होने के लिए शारीर शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। मानव शरीर की रचना उवं क्रिया के सम्यग् ज्ञान के द्वारा ही शरीरस्थ रोगों का ज्ञान और उनकी चिकित्सा सम्भव है। शरीर की रचना से सम्बन्धित ज्ञान रचना शारीर एवं उसकी क्रिया से सम्बन्धित ज्ञान क्रियाशरीर कहलाता है। महर्षि चरक के अनुसार शरीर के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान अर्जित करने वाला चिकित्सक ही आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञाता हो सकता है-

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।

आयुर्वेदं स कात्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥⁹

चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने शरीर की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है-
कर्तव्यचिकित्साया अधिकरणं शरीरं ज्ञातव्यं भवति; यतोऽप्रतिपन्नऽशेषविशेषतः शरीरे न शरीरविज्ञानाधीना चिकित्सा साध्वी भवति, अतः शरीरं कारणोत्पत्ति स्थितिवृद्ध्यादिविशेषैः प्रतिपादयितुं शरीरं स्थानमुच्यते॥¹⁰

नैषधीयचरित में यद्यपि रोगों के सन्दर्भ में शरीर के अङ्गों का वर्णन श्री हर्ष ने नहीं किया है, तथापि दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन तथा राजा नल के वर्णन में मानव शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों यथा मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण, जिह्वा, ग्रीवा, दन्त, हस्त, अंगुलियों, गुल्फ (टखने), पैर इत्यादि

का स्पष्ट वर्णन है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें राजा नल की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं-

रेखाभिरास्ये गणनादिवाऽस्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।

चतर्दशाऽष्टादश चाऽत्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः॥¹¹

अर्थात् नल के मुख में दन्तस्वरूप बत्तीस रेखाओं से गिनती करने से चौदह और अट्ठारह विद्याएँ दो प्रकारों से इनमें हैं, ऐसा ब्रह्माजी मानों सूचित करते हैं।

आयुर्वेद में औषधि निर्माण की अनेक प्रक्रियाएँ हैं। इनमें से एक प्रक्रिया है-पुटपाक। इसमें वैद्य एक मिट्टी के पात्र में औषधीय द्रव्य रखकर उसे दूसरे पात्र से ढक देते हैं। तदनन्तर उस पर मिट्टी का लेप कर आँच के अन्दर रख देते हैं, जिससे अन्दर ही अन्दर औषधि पक जाती है। यही प्रक्रिया पुटपाक है। इसका उल्लेख नैषध में दमयन्ती स्वयम्बर में उपस्थित होने के लिए इन्द्र के प्रस्थान करने पर मेनका अप्सरा के मनोभाव को व्यक्त करने के प्रसंग में किया गया है-

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधितसुरकरोदवहित्याम्।

तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिपितमसृजद् बहिरुत्थाम्॥¹²

अर्थात् मेनका नाम की अप्सरा ने मन में उत्पन्न ताप को आवरण करने की इच्छा से जो आकार गोपन किया उसी को मानो अपने हृदय के पुटपाक में बाहर पङ्कलेप कर दिया।

आयुर्वेद में औषधीय द्रव्यों की निश्चित मात्रा का अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इसके अनुसार औषधीय द्रव्यों का मिश्रण अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिए, अन्यथा औषधि लाभ प्रदान करने के स्थान पर व्यक्ति को हानि पहुँचा सकती है तथा मधु एवं घृत का सम मात्रा में प्रयोग करने से वह विष बन जाता है, इस तथ्य से श्रीहर्ष सुपरिचित थे-

चेतोऽजन्मशप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्

प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसाम्।

स्वादं स्वादमसीम मृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा

तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामनच्छं मूर्च्छामपि॥¹³

अर्थात् दमयन्ती ने कामदेव के बाणभूत फूलों के रस अथवा शहद से मिश्रण को प्राप्त हुए अपरिमित शुद्ध और सुगन्धित, प्रियतम नल के दूत पक्षिश्रेष्ठ हंस की वाणी रूप मक्खन को अनुराग से आस्वादित कर तृप्ति को पाकर भी अन्तःकरण में ताप को नहीं प्राप्त किया और अनुपम मूर्च्छा को भी नहीं पाया।

आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के रोगों के लक्षण, कारण तथा उपचार बताये गये हैं। शरीर में रोग अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इनमें से अन्यतम कारण है, वात, पित्त और कफ। इन

तीनों दोषों की विषमावस्था से व्यक्ति में रोग उत्पन्न हो जाते हैं और इनकी साम्यावस्था से व्यक्ति नीरोग रहता है जैसा कि अष्टाङ्गहृदय में स्पष्ट किया गया है-

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।¹⁴

त्रिदोष सिद्धान्त के विषय में श्री जॉली महोदय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है-

'The principle of three doshas of human body goes like a red thread through the whole medicine.'¹⁵

दोष-वैषम्य को दूरकर दोषों में साम्य स्थापित करना चिकित्सा का उद्देश्य है। इसके लिये सामान्य एवं विशेष सिद्धान्त आयुर्वेद में वर्णित है। सामान्य सिद्धान्त द्वारा घटे हुए दोषों को बढ़ाकर एवं विशेष सिद्धान्त द्वारा बढ़े हुए दोषों को घटाकर दोष-साम्य स्थापित किया जाता है।

श्रीहर्ष ने त्रिदोष का उल्लेख नैषधीयचरित के चतुर्थ सर्ग के निम्नांकित पद्य में किया है-

कन्याऽतः पुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं

द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।

देवा ऽऽकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं

स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः॥¹⁶

अर्थात् राजकन्या के अन्तः पुर के योग-क्षेम के अनुसन्धान के लिए जिन (मन्त्री और वैद्य) के नियोग से परपुरुष प्रवेश अथवा वातपित्तादि दोष नहीं होते हैं, वैसे मन्त्रिश्रेष्ठ और वैद्यराज दोनों ने ही राजा को एक ही वाक्य कहा-

मन्त्रिवर-महाराज! सुनिये, अच्छी तरह से सुने गये गुप्तचर के कथन से मैं समस्त बात जानता हूँ। दमयन्ती के ताप को दूर करने में नल नामक राजा के प्रदान क अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं हो सकता।

वैद्य-महाराज! सुनिए, सुश्रुत तथा चरक के द्वारा कही गई बातों से मैं सब जानता हूँ कि बिना उशीर (नलद) दिए राजकुमारी के ताप को कोई भी दूर नहीं कर सकता।

श्री हर्ष के विषय में प्राप्त जनश्रुति से भी उनके त्रिदोषविषयक ज्ञान का परिचय होता है। इस जनश्रुति के अनुसार 'असामान्य वैदुष्यपूर्ण प्रतिभा के कारण जब इसकी रचना दुरूह हुई तब अपनी कृति को बोधगम्य कराने के लिए उन्होंने अर्धरात्रि के समय शिर पर जल डालकर दही पिया, परिणामस्वरूप इनके शरीर में कफ की अधिकता हो गई, अतः बुद्धि कुछ मन्द हुई। तदन्तर लोग इनका काव्य समझने में समर्थ हुए।

पित्त दोष के विषय में श्रीहर्ष का कथन है कि पित्त के दोष से रसनेन्द्रिय दूषित हो जाती है अतः चीनी भी कड़वी लगने लगती है-

विज्ञापनीया न गिरो मदर्याः कृधा कदुष्णे हृदि नैषधस्या।

पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसाकुलाऽवतंसः॥¹⁷

अर्थात् हे हंसवंश के भूषणस्वरूप! नल का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर मेरे लिए प्रार्थना वचन का निवेदन मत करो, क्योंकि पित्त के दोष से रसनेन्द्रिय के दूषित होने पर चीनी भी कड़वी हो जाती है।

रोगोत्पत्ति के प्रमुख कारणों में से एक अन्य कारण है-संक्रमण, जिसे आयुर्वेद तो स्वीकार करता ही है, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी इसको माना गया है। संक्रमण से होने वाले रोग संक्रामक रोग कहलाते हैं। सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि संक्रामक रोग रोगी व्यक्ति के सम्पर्क में आने से होते हैं-

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।

सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्तरम्॥¹⁸

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में संक्रामक रोग का उल्लेख निम्नलिखित पद्य में किया है-
स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिण्णोः सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।

निदानमौनादविशद्विशाला सांक्रामिकी तस्य रुज्वे लज्जा॥¹⁹

अर्थात् अत्यन्त लज्जाशील नल के मदन-ज्वर की चिकित्सा करने के लिये सिद्ध वैद्यों के समूह आए, परन्तु उस रोग के निदान के विषय में ही सभी मौन हो गए, मानो संक्रामक रोग की भाँति नल की लज्जा ने उन सबको आक्रान्त कर दिया।

आयुर्वेद में शरीर के उचित पोषण एवं रोग निवारण के लिये सम्यग् आहार आवश्यक माना गया है। इस सन्दर्भ में दो प्रकार के आहारों की गणना इसमें की गयी है-

1. पथ्य 2. अपथ्य-

पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्।

यच्चाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत्॥²⁰

अर्थात् पथ के लिए अनपेत (उपकारी), मन को प्रिय लगने वाला आहार पथ्य कहलाता है, इसके विपरीत आहार अपथ्य है। अपथ्य आहार करने से रोग होने की सम्भावना होती है। अपथ्य अन्न का उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं-

प्रक्षीण एवाऽऽयुषि कर्मकृष्टे नरान्तिष्ठत्युपष्टिते यः।

बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुख वः।²¹

अर्थात् जो स्वर्ग प्रारब्ध कर्म से उपार्जित आयु के क्षीण होने पर ही मनुष्यों को प्राप्त होता है, आयु के रहने पर प्राप्त नहीं होता, अविचारित रमणीय सुख से युक्त अतः अपथ्य अन्न के समान वैसे स्वर्ग को कौन सा विद्वान् भोगने की इच्छा करता है?

कुछ रोगों का वर्णन और इनकी चिकित्सा नैषधीयचरित में प्राप्त होती है। दमयन्ती के विरह-वर्णन के प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने दाह (ताप) का वर्णन किया है और दाहशान्ति के लिए शैत्य गुण युक्त उशीर, जल, कमल, चन्दन आदि के प्रयोग का उल्लेख किया है। आयुर्वेद में भी इनको दाहशान्ति के लिये उपयुक्त बताया गया है-

दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु शीतैरुशीरजलचन्दन.....²²

तथा लाजाचन्दनकाशमर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूची ह्रीवेराणामिति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति।²³

दमयन्ती के विरह ताप की शान्ति के लिए अन्तः पुर में नियुक्त वैद्य उशीर (रवस) का प्रयोग करने के लिए कहते हैं क्योंकि उशीर के अनुलेपन से ताप शमन होता है।²⁴ इसका प्रयोग शीतलता के लिए किया जाता है। इसमें दाह, मद, थकान आदि को दूर करने का गुण है।

अन्यत्र श्रीहर्ष ने इसका उल्लेख किया है-

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य।

भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्त्ता हृदचन्दनलेपकृत्यम्।²⁵

अर्थात् जैसे ब्रह्माजी के द्वारा दण्ड के बिना निर्मित वीरतृण का मूल उशीर होकर हृदय को चन्दन के सदृश होकर ठण्डा करता है, उसी प्रकार पक्षी तुम (हंस) अनवसर में ही कामदेव के द्वारा मुझमें किये गये प्रहार रूप युद्ध के कारण होकर भी ल को देने के भाव को प्राप्त कर काम सन्तप्त हृदय को चन्दन के लेप के समान ठण्डा नहीं करोगे?

चन्दन आह्लादजनक तथा श्रम, शोष, विष, कफ, तृषा, पित्त, रक्त-विकार तथा दाह-नाशक के रूप में आयुर्वेद में उल्लिखित है। चन्दन के दाह-नाशक गुण का वर्णन श्रीहर्ष ने उपर्युक्त पद्य के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर किया है यथा-

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तथा भूतबुद्बुदमाबधौ।

उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाऽङ्कगतोद्गुपरिग्रहः।²⁶

अर्थात् दमयन्ती ने विरह से सन्तप्त अपने हृदय में बुलबुलों से युक्त चन्दन का द्रव रखा, वह द्रव अपने मित्र कामदेव के पास जाता हुआ निकटस्थ ताराओं से युक्त चन्द्रमा के समान सुशोभित हुआ।

आयुर्वेद में कमल को शीतल बताया गया है। नैषधीयचरित में कमल के इस गुण का संकेत अनेकत्र प्राप्त होता है यथा-

ज्वलति मन्मथवेदनया निजहृदि तयार्द्रमृणाललताऽर्पिता।

स्वजयिनस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद भुजयोर्भृशम्॥²⁷

अर्थात् कामज्वर के सन्ताप से जलते हुए अपने वक्षस्थल में दमयन्ती के द्वारा रखी गई कमललता ने अपने को जीतने वाले समीप में स्थित दमयन्ती के दोनों बाहों की मानो लज्जा से अत्यन्त विवर्णता को धारण किया।

जल प्रकृति का अनुपम उपहार है तथा समस्त प्राणियों के लिए अनिवार्य है। यह महत्वपूर्ण औषधि का भी कार्य करता है। दाह, मूर्च्छा आदि अनेक रोगों में यह लाभकारी है। शरीर के दाह (ताप) को शान्त करने के लिए इसके प्रयोग का वर्णन श्रीहर्ष ने किया है। इसके साथ ही व्यक्ति के मूर्च्छित हो जाने पर उसके अंगों पर जल छिड़कने से उसकी मूर्च्छा दूर हो जाती है। सुश्रुत संहिता में मूर्च्छा में जल का सेक उपयोगी बताया गया है-

सेकावगाही मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।

शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि॥²⁸

दान देने वाला व्यक्ति दान देते समय हाथ में जल लेकर संकल्प करता है, यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है। श्रीहर्ष के विचार से इससे याचक की मूर्च्छाकृत अपमृत्यु दूर हो जाती है-

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।

याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितमेतत्॥²⁹

अर्थात् दाता देय द्रव्य को निकट रखकर याचक को जो देता है, यह (जलदान) माँगने के वचन के वैफल्य की शङ्का से उत्पन्न भय से होने वाली मूर्च्छा की चिकित्सा है।

विषजन्य मूर्च्छा का वर्णन श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित के द्वितीय सर्ग में किया है-

कुसुमानि यदि स्मरेश्वो न तु वज्रं विषवल्लिजानि यत्।

हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन्॥³⁰

अर्थात् कामदेव के बाण यदि फूल हैं, वज्र नहीं तो वे विष की लताओं से उत्पन्न हैं, जो कि इन्होंने मेरे हृदय को मूर्च्छित और अत्यन्त सन्तप्त किया है।

मूर्च्छा शान्ति के लिए विशल्या (गुडूची) औषधि लता के प्रयोग का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। आचार्य शोढल के अनुसार-

महौषधामृता द्राक्षा पौषकरग्रन्थिकोद्भवम्।

पिबेत् क्वाथं कणायुक्तं मूर्च्छायां मदेषु च॥³¹

इसमें उन्होंने सोंठ, गुडूची, द्राक्षा आदि अनेक ओषधियों को मिलाकर बनाये गये क्वाथ को मूर्च्छा प्रशमन के लिए उपयोगी बताया है।

नैषधीयचरित में एक स्थल पर मूर्च्छा दूर करने के लिए विशल्या ओषधि का संकेत है-

एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति।

त्वं मूर्च्छतां नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि॥³²

अर्थात् हे दमयन्ति! ये इन्द्र आदि दिक्पाल प्रत्येक ही स्थूल कुच को पीड़ित करके आलिङ्गन कर आपको सन्देश देते हैं-‘कामदेव रूप भिल्ल के बाणों से मूर्च्छित होने वाले हम लोगों की प्रीति के लिए तुम विशल्या औषधलता बनो।’

दमयन्ती के मूर्च्छित हो जाने पर सखियों ने जल, कमल, पङ्खे की वायु, चन्दन इत्यादि से उसकी मूर्च्छा दूर की-

अधित काऽपि मुखे सलिलं सखी, प्यधित काऽपि सरोजदलैः स्तनौ।

व्यधित काऽपि इदि व्यजनाऽनिलं, न्यधित काऽपि हिमं सुतनोस्तनौ॥³³

कर्ण पीड़ा का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित में किया है-

त्वदास्यनियन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वाल्लिपिरूपभागिव।

श्रुतिं ममाऽऽविश्य भवददुरक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः॥³⁴

अर्थात् आप (नल) के मुख से निकली हुई मेरी मिथ्या दुष्कीर्तिरूप स्याही से प्रचुर होने से मानो लिपि के अक्षर भाव को प्राप्त यह आपका दुर्वाक्य-दंश आदि कीड़े के समान मेरे कान में प्रविष्ट होर असह्य पीड़ा उत्पन्न कर रहा है।

जल का प्रयोग यदि सम्यक् रूप से जल के द्वारा उपचार्य रोग में किया जाए तो यह औषधि का काम करता है अन्यथा रोग को बढ़ाने वाला भी है, यथा ज्वर ग्रस्त व्यक्ति यदि स्नान कर ले तो उसका ज्वर बढ़ जाता है, श्रीहर्ष ने इस तथ्य का प्रतिपादन निम्नलिखित पद्य में दिया है-

यदतनुज्वरभाक् तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमञ्जनम्।

सपदि तस्य चिराऽन्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यता॥³⁵

अर्थात् दमयन्ती ने कामज्वर से युक्त होकर जो प्रिय (नल) के कथा रूप तालाब में स्नान किया, उस समय उस स्नान का उसी क्षण बहुत समय तक मन को सन्तप्त करने वाला विषम परिणाम उत्पन्न हुआ।

श्वेत कुष्ठ नामक चर्म रोग का उल्लेख भी नैषधीयचरित में उपलब्ध होता है-

द्विजपति ग्रसना ऽऽहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः।

विरहिणीवदनेन्दुजिधत्सया स्फुरति राहुरयं न निशाकरः॥³⁶

अर्थात् हे सखि! चन्द्र रूप ब्राह्मण को ग्रास करने से प्राप्त पातक से उत्पन्न कुष्ठ रोग से सफेद शरीर वाला यह राहु वियोगिनी के मुखचन्द्र को खाने की इच्छा से चमक रहा है, चन्द्रमा नहीं। शल्य चिकित्सा का वर्णन कवि ने चतुर्थ सर्ग में किया है। पुराणों में वर्णन प्राप्त होता है कि महादेव के द्वारा काटे गये यज्ञमृग के शिर को अश्विनी कुमारों ने जोड़ दिया था इस विषय में श्रुति प्रमाण है-

“ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्।”

इस तथ्य का उल्लेख श्रीहर्ष ने किया है-

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलित शिरः।

सपदि सन्दधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसो ऽपि करोतु कः॥³⁷

अर्थात् हे सखि! शरीर की कान्तियों से कामदेव के सदृश और उनके मित्र स्वर्ग के वैद्य अश्विनी कुमारों ने कामदेव के शत्रु महादेव के द्वारा काटे गये मृग का रूप लेने वाले यज्ञ के शिर को जैसे शीघ्र जोड़ दिया, किन्तु कौन इसी प्रकार राहु के शिर को भी जोड़ देगा?

महाभारत की कथा के अनुसार जरा नाम की राक्षसी ने जरासन्ध के शरीर के दो भागों को जोड़ दिया था, इस तथ्य का संकेत भी इस महाकाव्य में प्राप्त होता है-

सखि! जरां परिपृच्छ तमः शिरः सममसौ दधताऽपि कबन्धताम्।

मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना?³⁸

अर्थात् हे सखि! तुम जरा नाम्नी राक्षसी से पूछो। वह शिर से हीन शरीर को धारण करते हुए केतु ग्रह के साथ राहु के शिर को भी जरासन्ध के शरीर के दो भागों के समान क्यों नहीं मिला देती है?

आयुर्वेद में स्थावर एवं जङ्गम विष की चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। श्रीहर्ष ने सर्प के दंश से फैलने वाले विष का उल्लेख किया है यथा-

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा।

शशिकलेव खराऽशुकराऽर्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम्?³⁹

अर्थात् दमयन्ती ने कामदेव की बाण पंक्ति रूप सर्प के दंशन से फैलने वाले वियोग रूपविष से विह्वल होकर सूर्य की किरणों से पीड़ित चन्द्रकला के समान किस पुरुष को

शोक-समुद्र में नहीं डाला?

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से श्रीहर्ष के आयुर्वेदविषयक प्रगाढ़ ज्ञान का परिचय हमें प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त नैषधीयचरित में इससे सम्बन्धित अन्य अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष आयुर्वेद के समस्त विषयों से केवल परिचित ही नहीं थे, अपितु इनमें उन्हें निपुणता भी प्राप्त थी।

सन्दर्भ संकेत

- | | |
|--|--|
| 1. संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ. 329-330 | 2. नैषधीयचरितम्-1.5 |
| 3. अमरकोष-2.8.120 | 4. चरक संहिता-सूत्र स्थान-1.42 |
| 5. वही-1.41 | 6. सुश्रुत संहिता-सूत्र स्थान-1.5 |
| 7. वही-15.41 | 8. महाभारत-आश्व0-12.3,4 |
| 9. चरक संहिता-शारीर 6.19 | 10. वही शारीर 1.12 पर चक्रटीका |
| 11. नैषधीयचरितम्-3.35 | 12. वही 5.51 |
| 13. वही 3.130 | 14. अष्टाङ्गहृदय-1.20 |
| 15. इंडियन मेडिसिन-पृ. 59 | 16. नैषधीयचरितम् 4.116 |
| 17. वही 3.94 | 18. सुश्रुत संहिता-निदान स्थान 5.33,34 |
| 19. नैषधीयचरितम्-3.111 | 20. चरक संहिता-सूत्र स्थान 25.46 |
| 21. नैषधीयचरितम्-6.100 | 22. सुश्रुत संहिता-उत्तर तन्त्र-47.58 |
| 23. चरक संहिता-सूत्र स्थान 4.18 | 24. नैषधीयचरितम् 4.116 |
| 25. वही 3.90 | 26. वही 4.28 |
| 27. वही 4.34 | 28. सुश्रुत संहिता-उत्तर तन्त्र 47.14 |
| 29. नैषधीयचरितम्- 5.85 | 30. वही 2.59 |
| 31. नैषधपरिशीलन से उद्धृत पृ. 477 | 32. नैषधीयचरितम् 8.90 |
| 33. नैषधीयचरितम्- 4.111 | 34. वही 9.65 |
| 35. वही 4.67 | 36. वही 4.73 (1), इस पद्य को प्रक्षिप्त माना गया है। |
| 37. वही 4.67 | 38. वही 4.69 |
| 39. वही 4.33 | |

टिप्पणी : नैषधीयचरितम् के पद्यों का अनुवाद आचार्य श्री शेषराज शर्मा रेग्मी द्वारा कृत 'चन्द्रकला' व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद के अनुसार किया गया है।

वैदिक कर्म-मीमांसा : शतपथ ब्राह्मण के सन्दर्भ में

अपर्णा धीर

शोध-छात्रा (पीएच.डी.)

संस्कृत विभाग, दि. वि. वि.

कर्मकाण्ड प्रधान यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं- कृष्ण एवं शुक्ल। शुक्लयजुर्वेदीय 'वाजसनेयी संहिता' की माध्यंदिन शाखा में उपलब्ध शतपथ ब्राह्मण, प्रस्तुत अध्ययन के मूल आधार के रूप में ग्रहण किया गया है। यह शतपथ ब्राह्मण कर्मकाण्ड के प्रतिपादन के लिए मुख्यतया जाना जाता है इसीलिए इस शोध-पत्र में वैदिक कर्म-मीमांसा को शतपथ ब्राह्मण में दिखाने का प्रयास किया गया है।

“कर्म” से अभिप्राय

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यह संसार तीन वस्तुओं का समूह है- नाम, रूप और कर्म¹। अतः कर्म को समाज की एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा माना गया है। कर्म की चर्चा करने से पूर्व कर्म का शाब्दिक अर्थ जानना परमावश्यक है। 'कर्म' शब्द की निष्पत्ति $\sqrt{\text{कृ}} + \text{मनिन्}$ प्रत्यय से मानी गई है²। कर्म का शाब्दिक अर्थ है- कार्य, काम, कृत्य इत्यादि। संहिता-काल से ही कर्म का प्रयोग वैदिक मन्त्रों में देखने को मिलता है³। इन मन्त्रों में कथित है कि जो मनुष्य यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान से सब मलिनताओं को दूर करके देदीप्यमान एवं कर्मशीलता द्वारा अपने आप को सदा उन्नति के मार्ग पर बढ़ने वाला बना लेता है, ऐसे मनुष्य का संसार की कोई शक्ति नाश नहीं कर सकती। आर. एल. कश्यप ने भी तैत्तिरीय-संहिता के अंग्रेजी अनुवाद में लिखा है कि शुभ कर्मों को करने वाले मनुष्य को कभी भी बुराई का सामना नहीं करना पड़ता⁴। इस प्रकार जहाँ ऋग्वेद, अथर्ववेद, काठक-संहिता इत्यादि में कर्म का अभिप्राय शुभ कर्मों से लिया गया है, वहीं शतपथ ब्राह्मण में कर्म का अर्थ पराक्रम अथवा वीर्य कहा गया है⁵। अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कर्मठ मनुष्य की कोई बराबरी नहीं कर सकता।

कर्म की उत्पत्ति एवं स्वरूप

कर्म की उत्पत्ति के विषय में शतपथ ब्राह्मण कहता है कि विचार, मन, चित्त, वाणी से ही क्रमशः सबसे पहले कर्म उत्पन्न हुआ⁶ अर्थात् विचार, मन, चित्त तथा वाणी को कार्य की ओर प्रेरित करने पर ही कर्म की उत्पत्ति होती है। इन मन्त्रों में गम्भीर तथ्य को प्रतिपादित किया गया है। यदि कोई व्यक्ति अपने विचारों को दृढ़ करके किसी कार्य की ओर प्रेरित हो, तभी वह कार्य सम्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार यदि कोई विमुख मन एवं चित्त से कार्य को करता है, तो वह किया गया कार्य कभी सफल नहीं होता। अतः कर्म की सफलता के लिए विचार, मन, चित्त एवं वाणी की एकाग्रता की परमावश्यकता होती है। इसी कारण शुक्लयजुर्वेदीय संहिता के एक मन्त्र में विचार, मन, चित्त तथा वाणी के लिए आहुति प्रदान की गई है। यहाँ कथित है कि यज्ञादि शुभ

संकल्पों की प्रेरणा देने वाले अग्निदेव के लिए आहुति सुहुत हो, अनुष्ठान को स्मरण कराने वाले मन और मन्त्र-तन्त्र को धारण करने वाली बुद्धि के प्रेरक अग्नि के लिए आहुति प्रदान करता हूँ, चित्त (अविज्ञात) अनुष्ठान के ज्ञान के साधन और विज्ञात अनुष्ठान के प्रेरक अग्नि के लिए, मन्त्र पाठ रूपी वाणी और मन्त्र धारण प्रयोजक अग्नि के लिए आहुति प्रदान करता हूँ।⁷

शतपथ के अनुसार प्रजापति ने ही सभी कर्मों को बनाया है।⁸ साधारणतया शरीर के प्रत्येक अंग द्वारा किया गया कार्य कर्म कहलाता है, जैसे- मन द्वारा किया गया संकल्प, वाणी द्वारा भाषण, चक्षु द्वारा दर्शन तथा श्रोत्र द्वारा श्रवण। ये सभी कर्म कहे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि ये प्राणी जो कुछ संकल्प करते हैं, बोलते हैं, क्रिया करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं इत्यादि वे सभी उनकी कृत्ति कहलाते हैं।⁹ वस्तुतः प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन क्रमशः प्राण-खींचना, बोलना, देखना, सुनना, सोचना आदि क्रियाओं के कर्म-सम्बद्ध नाम हैं। ये सभी चक्षु, श्रोत्र, वाणी आदि कर्म एक दूसरे से जब स्पर्धा करने लगे तब मृत्यु ने थकावट के रूप में जाकर उन्हें अपने वश में कर लिया इसीलिए वाणी, चक्षु, श्रोत्र थक जाते हैं परन्तु प्राण ही ऐसे हैं, जो चलते हुए या न चलते हुए भी क्षीण नहीं होते।¹⁰ ये संसार में सदा जागते रहते हैं एवं सब प्राणियों का पालन करते हैं।¹¹ इसी कारण यह प्राण इन सबमें श्रेष्ठ कहलाता है इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में कर्म को प्राण के बिना अपूर्ण कहा गया है।¹² तात्पर्य यह है कि प्राणों के बिना न आँख देख सकती है, न कान सुन सकता है, न मन सोच सकता है, न वाणी बोल सकती है। प्राणों के होने पर ही सभी अंग अपना-अपना कार्य कर सकते हैं। अतः प्रत्येक कर्म की निष्पत्ति के लिए प्राण पृष्ठभूमि के समान हैं।

यज्ञ रूप कर्म का वैशिष्ट्य

शतपथ ब्राह्मण में किसी विशिष्ट कर्म का उल्लेख न होते हुए, ऐसे कर्मों का उल्लेख है, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक हैं। जैसे-देव-कर्म, दैनिक-कर्म, नित्य-कर्म, प्रायश्चित्त-कर्म, क्रूर-कर्म (गाय-पकड़ना), पाप-कर्म, शुभ-कर्म, अतीनि-कर्म ('अतीनि' कर्म वे हैं, जो किसी कर्म से अधिक किये जायें जैसे-राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध), आसुरी-कर्म, अध्वर-कर्म, अग्नि-कर्म, रौद्र-कर्म, उपासना-कर्म, श्मशान-कर्म इत्यादि।

वस्तुतः यज्ञ का मुख्य प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण शतपथ में वर्णित इन सभी कर्मों की आधारशिला यज्ञ ही है इसीलिए यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।¹³ श्रेष्ठतम कर्म की परिभाषा देते हुए रमेशचन्द्र दास शर्मा 'शुक्लयजुर्वेदीय इष्टिप्रयोगः' नामक अपने ग्रन्थ में चार प्रकार के कर्म बताते हैं। वे कहते हैं कि कर्म चार प्रकार के हैं- अप्रशस्त, प्रशस्त, श्रेष्ठ एवं श्रेष्ठतम। चौर्यादि लोक विरुद्ध कर्म अप्रशस्त है। बन्धुवर्ग आदि आश्रितों का भरण पोषण प्रशस्त कर्म है। तालाब, कुआ, बगीचा, वृक्षारोपण आदि श्रेष्ठ कर्म है। समस्त प्रकृति की उद्भव स्थिति एवं विकास जिससे है, वह है श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ।¹⁴ इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण कहता है कि मनुष्य के तीन जन्म होते हैं- पहला माता-पिता से, दूसरा जब मनुष्य यज्ञ की ओर आकर्षित होकर यज्ञ करता

है और तीसरा जब वह मरता है।¹⁵ शतपथ के इस कथन से यज्ञ की महिमा स्वतः सिद्ध है। इसी कारण गीताशास्त्र में यज्ञ को अत्याज्य कर्म बताया गया है- यज्ञ, दान तथा तप रूपी कर्म ऐसे कर्त्तव्य है, जिनका परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये तीनों कर्म सब मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं।¹⁶ शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य का द्वितीय जन्म यज्ञ से हुआ है। आधुनिक सन्दर्भ में इसका अभिप्राय यज्ञ से न होकर प्रतिदिन किये जाने वाले कर्मों से हैं अर्थात् मनुष्य को सर्वदा निर्धारित किये गये अपने कर्त्तव्यों (duties) एवं उत्तरदायित्वों (responsibilities) के प्रति जागरूक रहना चाहिए है।

सकाम एवं निष्काम कर्म

मनुष्य कर्मों द्वारा ही विशेष गति को प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुष को कामनावाला बताया गया है कि यह जैसी इच्छा करता है, वैसा ही आचरण करता है, जैसा आचरण करता है, वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसी गति को प्राप्त होता है।¹⁷ एक अन्य मन्त्र में प्रतिपादित है कि यह पुरुष सत् है, जब वह कर्म के साथ सम्पर्क करता है, तो उसे लिङ्ग की प्राप्ति होती है। वह जो कुछ कर्म करता है, उस कर्म के अन्त को प्राप्त करने के पश्चात् उस कर्म के कारण उस लोक से फिर इस लोक को आता है। दूसरी ओर जिस व्यक्ति की इच्छाएँ पूरी हो जाती है। वह ब्रह्म के समान हो जाता है, हृदय स्थित कामनाओं के पूर्ण होने पर मर्त्य अमर्त्य हो जाता है और इस प्रकार उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।¹⁸

इस प्रकार कर्म के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए शतपथ में दो मार्गों का निर्देश है- सकाम कर्मयोग तथा निष्काम कर्ममार्ग। कामनायुक्त पुरुष सकाम कर्म का मार्ग अपनाता है और आप्तकाम पुरुष निष्काम कर्ममार्ग अवलम्बित होता है। सकाम कर्ममार्ग पर चलने वाले पुनः-पुनः मृत्यु का ही भोजन बने रहते हैं क्योंकि देवलोक में पुण्य-कर्मों से भोगने योग्य स्वर्ग रूपी फल नष्ट हो जाता है परन्तु निष्काम कर्ममार्ग पर चलने वाले ज्ञानी मनुष्य मृत्यु पश्चात् पुनः जन्म लेते हैं और अमर हो जाते हैं क्योंकि ब्रह्म का ध्यान करने वाला पुरुष ही परमात्मा के ज्ञान से संसार रूपी सागर को पार कर लेता है।¹⁹

पुण्य-कर्मों को करने से मनुष्य पुण्यात्मा होता है औ पाप-कर्मों में आसक्त रहने से वह पापत्मा होता है²⁰ क्योंकि यह आत्मा ही कर्मों की नींव है। इसी आत्मा के द्वारा कर्म उठते हैं।²¹ पुण्य-कर्मों को करता हुआ ज्ञानी मनुष्य (पुण्यात्मा) सदाचरण से युक्त होकर उत्तम गति को प्राप्त करता है। पुण्य-कर्म तथा पाप-कर्म मनुष्य के जीवन को एवं जीवन-उपरान्त तक को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इसी भय के कारण शतपथ ब्राह्मण के एक मंत्र भूल से बढ़े हुए या कम हुए कर्म को कल्याण कारक बनाने के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गई है।²² इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय संहिता में भी बुरे कर्म को दूर रखने के लिए अपामार्ग नामक वृक्ष से प्रार्थना प्राप्त होती है।²³ अतः पाप-कर्मों की शान्ति के लिए अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना कर, शतपथ ब्राह्मण

कालीन ऋषि ने कर्म के औचित्य पर विशेष बल दिया है। यहाँ सकाम एवं निष्काम कर्मों की चर्चा में ऋषि पक्षपात-हीन (open-minded) दिखाई देते हैं। उन्होंने शतपथ में सकाम कर्मों की निन्दा और निष्काम कर्मों की प्रशंसा किये बिना केवल इन कर्मों के फल-कथन के माध्यम से ही संसार को उत्तम कर्मों के प्रति जागरूक रहने का पाठ पढ़ाया है।

निष्कर्षतः कहना उचित होगा कि कर्म ही सभी नैतिक मूल्यों का आधार है। अतः मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी प्रकार उसका जीवन बनता है। सत्कर्मों से वह उन्नत होता है और दूषित कर्मों से निकृष्ट। पुण्यों-कर्मों के लिए तत्पर रहने वाला मनुष्य सदा सत्य कथन करने वाला, अहिंसा प्रेमी, कोमल एवं साफ चित्त वाला, निर्मल बुद्धि वाला, आत्मसंयमी, सदाचरण युक्त, सहज स्वभाव वाला, शालीन एवं धैर्यशाली व्यक्ति होता है। आधुनिक समाज के परिप्रेक्ष्य में कहा जाये तो कह सकते हैं कि आज का मनुष्य अपना कार्य तो कर रहा है परन्तु वह कार्य सद्भावना से युक्त न होकर स्वार्थसिद्धि रूपी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। जिसके कारण आज मनुष्य की कार्यशैली में अपराधीवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और समाज भ्रष्टाचार के चक्रव्यूह में फँसता जा रहा है। आधुनिक युग में शतपथ ब्राह्मण के विचारों के प्रकाश की आवश्यकता है। आज हमें जरूरत है-एकाग्र मन एवं चित्त की, आत्मसंयमी इन्द्रियों की एवं कर्मों से होने वाली गति को पहचाने वाली दूरदृष्टि की। अतः वेद की शिक्षा ग्रहण कर निरन्तर सद्गुणों को अपने जीवन में लाना चाहिए और दुर्गुणों को छोड़ना चाहिए।²⁴ इससे जीवन उत्कृष्ट और पवित्र होता है। कह सकते हैं कि शतपथ ब्राह्मण कर्म के प्रत्येक पक्ष को दर्शाते हुए, उसके स्वरूप और महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए, उपनिषदों में छिपे गूढ़ रहस्य को प्रारम्भिक रूप में चित्रित कर, वैदिक कर्म-मीमांसा को प्रस्तुत करता है।

1. त्रयं वाऽइदं नाम नृपं कर्म। श. ब्रा. 14.4.4.1 (शतपथ ब्राह्मण)
2. वैदिक कोश, भाग-1, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 420
3. नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्...॥ ऋ. सं. 8.70.3 (ऋग्वेद-संहिता), सा. सं. 1. 243 (सामवेद-संहिता), अ. सं. 20.92.18 (अथर्ववेद-संहिता),
नकिष्टं कर्मणा नशन्न प्र योषन्न योषति...॥ ऋ. सं. 8.31.17, तै. सं. 1.8.22.4 (तैत्तिरीय-संहिता),
का., सं. 11.12.35 (काठक-संहिता), मै. सं. 4.11.2 (मैत्रायणी-संहिता)
4. No one obstructs him by his actions; (evil actions) will not join him (na prayoshat); no meeting (with evil) (na yoshati). R.L.Kashyap, Taittiriya Samhita, English translation, 1.8.22.4
5. ...वीर्यं वै कर्म...॥ श. ब्रा. 11.5.4.5,
...कर्म वाऽइन्द्रियं वीर्यं...॥ श. ब्रा. 12.7.2.11
6. ...आकूताद्वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तदेवै...॥ श. ब्रा. 6.6.1.15,

- ...मनसो वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तदेवै...॥ श. ब्रा. 6.6.1.16,
 ...चित्ताद्वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तदेवै...॥ श. ब्रा. 6.6.1.17,
 ...वाचो वाऽएतदग्रे कर्म समभवत्तदेवै...॥ श. ब्रा. 6.6.1.18
7. आकूतिमग्निं प्रयुज् स्वाहा। मनो मेधामग्निं प्रयुज् स्वाहा। चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुज् स्वाहा। वाचो विधृतिमग्निं प्रयुज् स्वाहा। शु. यजु. सं. 11.66 (शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता)
8. ...प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे...॥ श. ब्रा. 14.4.3.30
9. ...भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृति...॥ श. ब्रा. 10.5.3.3,
 ...भूतानि वाचा वदन्ति तेषामेव सा कृति...॥ श. ब्रा. 10.5.3.4,
 ...भूतानि प्राणेन प्राणन्ति तेषामेव सा कृति...॥ श. ब्रा. 10.5.3.5,
 ...भूतानि चक्षुषा पश्यन्ति तेषामेव सा कृति...॥ श. ब्रा. 10.5.3.6,
 ...भूतानि श्रोत्रेण शृण्वन्ति तेषामेव सा कृति...॥ श. ब्रा. 10.5.3.7
10. ...तानि सृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त...तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे...चक्षुः श्राम्यति...॥ श. ब्रा. 14.4.3.30-31
11. यो जागार भुवनेषु विश्वा जातानि योऽबिभः...॥ श. ब्रा. 11.3.18
12. ...वै कर्मऽर्ते प्राणोभ्योऽकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः॥ श. ब्रा. 10.5.3.8
13. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। श. ब्रा. 1.7.1.5;
 यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तै. ब्रा. 3.2.1.4 (तैत्तिरीय ब्राह्मण)
14. रमेशचन्द्र दाश शर्मा, शुक्लयजुर्वेदीय इष्टिप्रयोगः, दिल्ली, 2003, पृष्ठ।
15. त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। एतन्नवेव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायतेऽथं यं यज्ञ उपनमति स यद्यजते तद्वितीयं जायतेऽथ यत्र म्रियते यत्रैनमग्रावभ्याद्धति...। श. ब्रा. 11.2.1.1
16. ...यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ श्रीमद्भगवद्गीता 18.3,
 यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव...यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता 18.5
17. ...काममय एवायं पुरुष इत स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते...॥ श. ब्रा. 14.7.2.7
18. ...तदेव सत्तत्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो...ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति॥ श. ब्रा. 14.7.2.8
19. ...पुनः सम्भवन्ति ते सम्भवन्त एवामृत...पुनः-पुनर्भवन्ति॥ श. ब्रा. 10.4.3.10
20. ...पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति...॥ श. ब्रा. 14.6.2.14
21. ...आत्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां...॥ श. ब्रा. 14.4.4.3

22. यत्कर्मणात्यरीरिचिम्। यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निंष्टत्स्विष्टकृद्वान्तिस्वष्टां...॥ श. ब्रा. 14.9.4.24
 23. अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दृष्वप्यं सुव॥ शु. यजु. सं. 35.11
 24. विश्वानि देव सवितार्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव॥ ऋ. सं. 5.82.5, शु. यजु. सं. 30.3, तै. ब्रा. 2.4.6.3

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद-संहिता, (सम्पा.) जगदीश्वरानन्द सरस्वती, संस्कार प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, 2000
2. ऋग्वेद-संहिता, नाग प्रकाशक, 11 ए/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली-7, 1994
3. काठक-संहिता, (सम्पा.) दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी नगर, बलसाड प्रदेश, गुजरात, 1983
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण (द्वितीय भाग), (सम्पा.) पुष्पेन्द्र कुमार, नाग पब्लिशिंग, 11 ए/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली-7, 2003
5. मैत्रायणी-संहिता, (सम्पा.) दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी नगर, बलशाड प्रदेश, गुजरात, 1983
6. वैदिक कोश (प्रथम भाग), चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं अनिल कुमार उपाध्याय, नाग प्रकाशक, 11 ए/यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली-7, 1994
7. सामवेद भाष्य, जगदीश्वरानन्द सरस्वती, संस्कार प्रकाशन, 4408, नई सड़क, दिल्ली-6, 1996
8. शतपथ ब्राह्मण (माध्यान्दिन-तीन भाग), (अनुवा.) गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा (सम्पा.) स्वामी सत्यप्रकाश, सरस्वती, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 2003
9. शुक्ल-यजुर्वेदीय-इष्टिप्रयोगः, रमेशचन्द्र दाश शर्मा, मान्यता प्रकाशन, 60-सी, मायापुरी, नई दिल्ली-64, 2003
10. शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता (सनातन भाष्य संवलिता), प्रथम भाग, 1-18 अध्याय, (सम्पा.) गोविन्दानन्द, (व्याख्याकार) कण्ठशास्त्री, सद्गुरु गंगेश्वर इन्टरनेशनल वेद मिशन, बम्बई, 2000
11. श्रीमद्भगवद्गीता, गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर-273005, सं. 2058
12. Krishna Yajurveda Taittiriya Samhita, Kanda 1 & Kanda 2, Vol. 1, R.L.Kashyap, (complete text in devengari with transliteration, English translation), Shri Aurbindo Kapali Sastry, Institute of Vedic Culture, Bangalore, 2002

जल-संरक्षण में अभिनव काव्य 'रक्षत-गङ्गाम्' की भूमिका

डॉ. अर्चना कुमारी दुबे

प्रवक्ता

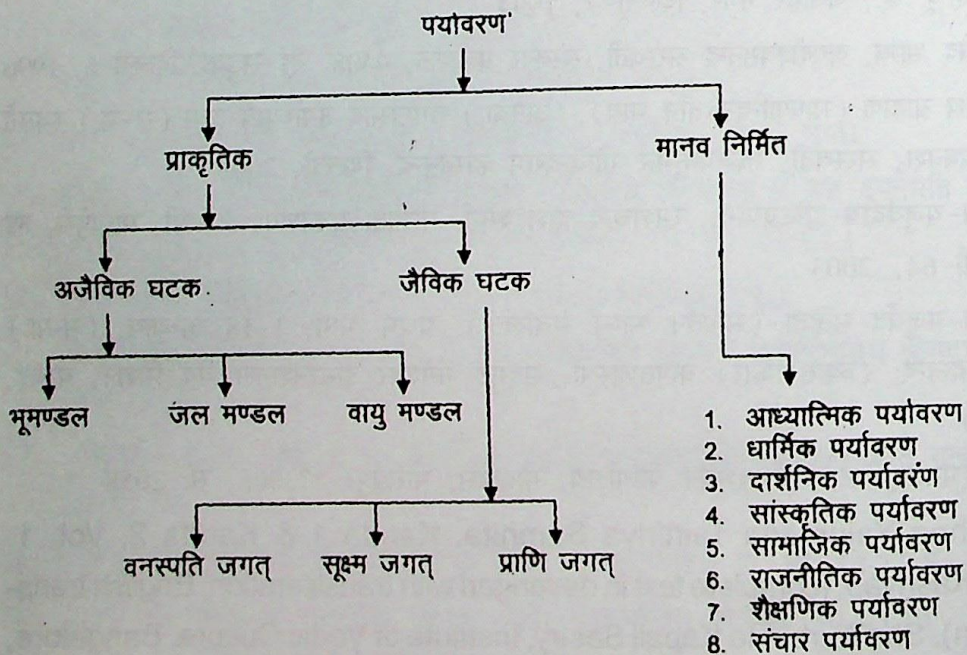
रवीन्द्र निवास, 8 वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

गंगा को 4 नवम्बर 2008 को राष्ट्रीय नदी के रूप में घोषित किया गया है। कोच के अनुसार प्रत्येक वस्तु जल से ही उत्पन्न हुई है और प्रत्येक वस्तु जल के द्वारा ही जीवित है।

इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशियल साइंसेज (1952) के अनुसार- "पर्यावरण को जीवन और सावयव (जीव) के विकास को प्रभावित करने वाली सभी बाह्य दशाओं और प्रभावों की सभ्यता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

डगलश व हॉलैण्ड के अनुसार- "पर्यावरण शब्द का प्रयोग उन सब बाह्य शक्तियों, प्रभावों तथा दशाओं के सामूहिक रूप से वर्णन करने हेतु किया जाता है जो जीवित प्राणियों (सावयवों) के जीवन, व्यवहार बुद्धि, विकास और परिपक्वता का प्रभाव डालते हैं।"

ए गाउडी के अनुसार- "पृथ्वी के समस्त भौतिक घटक पर्यावरण के प्रतिनिधि हैं। इस पर्यावरण को प्रभावित करने में मानव एक महत्वपूर्ण घटक है।"



पर्यावरण का प्रमुख घटक जलमण्डल है जो पृथ्वी 71% भू-भाग जल से घिरा हुआ है। वर्तमान में जल को प्रदूषित होने से बचाने के लिए (जल प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1974, उपकर अधिनियम, 1977, उपकर नियमावली 1978 बनाये गये। जल समस्या समाधान हेतु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास चल रहे हैं।

1. संयुक्त राष्ट्र जल सम्मेलन 1977
 2. अन्तर्राष्ट्रीय पेयजल का स्वच्छता दशक 1981-90
 3. जल की आपूर्ति के लिए किये गये अनेक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास 1995 से अब तक।
- Water day all countries 22 March 2002 water for development.

स्रोतों के आधार पर जलमण्डल में जल की मात्रा

क्रम	स्रोत	जल का प्रतिशत	मात्रा
1	महासागरों में	97.2%	13,60,800
2	भूमि से घिरे समुद्र व खारी झीलों में	0.008%	112.00
3	ग्लेशियर्स तथा ध्रुवों पर जमी बर्फ	2.15%	30,100.00
4	भगर्भ में	0.625%	8,750.00
5	नदियों और मीठे जल की झीलों में	0.0091%	127.40
6	वायुमण्डल में	0.001%	14.00
7	अन्य भण्डारण	0.0069%	96.60
	कुल जल मात्रा	100.00%	14,00,000.00

जल प्रदूषण का वर्गीकरण (1) भौतिक जल प्रदूषण (2) रासायनिक भौतिक-तापीय, स्वाद गन्ध, रंग, निलम्बित पदार्थ, झाग, रेडियोधर्मी प्रदूषण। पर्यावरणीय शिक्षा हमारी प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वेदों से प्रारम्भ होती है। जहां नदियों, वृक्षों, पृथ्वी जल व अग्नि आदि को देवता के रूप में पूजित किया गया है। वेदों में वायुमण्डल को शुद्ध रखने के लिए नियमित रूप से यज्ञ करने और कराने का विधान किया गया है। पिछले कुछ वर्षों से भारत में प्रदूषण की समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया है। जल प्रदूषण की समस्या से विशेषकर बड़े-बड़े नगर एवं औद्योगिक स्थान प्रभावित हुए हैं।

जल को प्रदूषित होने के कई कारण हैं और उन कारणों के पीछे या तो मनुष्य द्वारा उसका अनुचित प्रयोग होता है अथवा इसके कुछ अप्राकृतिक कृत्य इसका कारण बनते हैं। बढ़ती आबादी के साथ अन्न की आवश्यकता अनेक अन्य आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति हेतु औद्योगिक क्षेत्र की बाहुल्यता के अप्रत्यक्ष रूप से जल प्रदूषण में भारी वृद्धि की है। साथ ही दैनिक जीवन में मानव

के कार्य करने के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार जल प्रदूषित होने की सम्भावना बनी रहती है।

(क) **जलप्रदूषण के कारण**-मनुष्य के दैनिक कृत्यों से गन्दगी, औद्योगिक अपशिष्ट अपमार्जक (डिटर्जेंट), कृषि रसायन, कीटनाशी रसायन, औद्योगिक तापीय प्रदूषण, खनिज तेल, शवों के जल प्रवाह से प्रदूषण, रेडियोधर्मी पदार्थ, कीटाणुनाशक एवं अपतृणनाशक पदार्थ।

(ख) **जल के मुख्य प्रदूषक तत्त्व**-फ्लोराइड, सीसा, फिनोल, सोडियम, जस्ता, नाइट्राइट, पेथोसेनिक बैक्टीरिया अथवा अपतृणनाशक पदार्थ।

(ग) **जल प्रदूषण के दुष्प्रभाव**- जल प्रदूषण से सबसे अधिक प्रभाव मानव के स्वास्थ्य पर पड़ता है। इसके कारण अतिसार, जुकाम, श्वास-कास, लकवा, हैजा, मोतीझारा, चर्मरोग, अन्धापन, नारु, कृमि, पीलिया, रतिरोग, उदर रोग आदि। प्रदूषित जल मानव जाति समुद्री जीवों तथा जलीय पादपों को हानि पहुंचाता है। आजकल सबसे अधिक प्रकोप पेयजल में फ्लोराइड की अधिक मात्रा में हो रहा है।

डॉ. कमला पाण्डेय विगत चौबीस वर्षों से वसन्तकन्या महाविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्षा के रूप में कार्यरत हैं। आपने अपनी शिक्षण-विधा में संस्कृत की गतिशीलता को बनाये रखने के अनेक प्रयास किये हैं। इस हेतु इन्होंने 'संस्कृत मातृमण्डलम्' की स्थापना की है। एक ओर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित त्रैवार्षिक पाठ्यक्रम का क्रमबद्ध अध्यापन और दूसरी ओर प्रत्येक सत्र में संस्कृत मातृमण्डलम् के तत्त्वावधान में सम्भाषण शिविर, कालिदास-जयन्ती, संस्कृत-दिवस समारोह व प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य स्मृति व्याख्यानमाला का आयोजन करना एवं छात्राओं को प्रतियोगिताओं में पुरस्कार जीतने के लिए तैयार करना आदि डॉ. पाण्डेय की कर्मभूमि के विविध पहलू हैं।

डॉ. कमला पाण्डेय की संस्कृत काव्य-रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. 'गंगा-दण्डकम्' इस काव्य में दण्डक वृत्त में गङ्गा की स्तुति की गई है। स्वोपज्ञ संस्कृत टीका व हिन्दी अनुवाद सहित यह प्रकाशित है। इसका प्रथम संस्करण 1998 में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन स्थान हैं- श्रीमाता पब्लिकेशन्स हनुमानघाट, वाराणसी।

2. 'रक्षत गंगाम्' यह एकादश सर्गात्मक महाकाव्य है। वस्तुविन्यास की दृष्टि से यह चार खण्डों में विभाजित है-प्रथम उत्पत्ति खण्ड है, जिसमें प्रथम सर्ग में पौराणिक मत और द्वितीय सर्ग में आधुनिक मतों का काव्यात्मक निरूपण है। क्रम इस प्रकार है- हिमालय-देवप्रयाग-वर्णन, हृषीकेश-कर्णपुर-वर्णन, तीर्थराज प्रयाग- विन्ध्यवर्णन, वाराणसी-वर्णन, बिहारप्रदेश-वर्णन, बङ्गभूगङ्गासागर-वर्णन, तृतीय आध्यात्मिक खण्ड में अध्यात्म का वर्णन है, यह नवां सर्ग है। चतुर्थ खण्ड दशमसर्ग है जिसमें गंगा के प्रदूषण का वर्णन है। पञ्चमखण्ड अर्थात् एकादश सर्ग प्रदूषण-निवारण का निरूपण है। अन्त में महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट है, जिसमें कुछ मानचित्र भी लगाये

गये हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का संकेत अंग्रेजी तथा संस्कृत-भाषा में किया गया है। इसमें एक मानचित्र भी लगाया गया है, जिसमें हिमालय-क्षेत्र में नदियों की स्थिति को दर्शाया गया है। यह महाकाव्य स्वोपज्ञहिन्दी-अनुवाद डॉ. अनुराधा बैनर्जी के द्वारा लिखे गये अंग्रेजी भावानुवाद के साथ सन् 1999 में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशक हैं- श्रीमाता पब्लिकेशन्स, हनुमानघाट, वाराणसी।

डॉ. कमला पाण्डेय की कृति **‘रक्षत गङ्गाम्’** में स्वच्छता और पवित्रता के मूल्य पर बल दिया गया है। गंगा भारत की अमूल्य निधि है। अपनी उपभोगवादी संस्कृति के कारण हम आज अपनी इस निधि को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। गङ्गा केवल सामान्य जलधारा नहीं बल्कि भारतीय एकता और अखंडता की संवाहिका तथा सभ्यता और संस्कृति की धारा है। भारत की सभ्यता और संस्कृति इसके तट पर ही फली-फूली है, किन्तु आज के प्रदूषण भरे वातावरण में सबसे बड़ी समस्या जल-प्रदूषण की है, जो मानव के अस्तित्व के लिए संकट बन चुकी है। कवयित्री ने कहा है कि जल-तत्त्व का प्रतिनिधित्व करने वाली गंगा में भारत के जन-जन की आस्था है। इस आस्था को बनाए रखने के लिए गंगा की रक्षा आवश्यक है। इसीलिए गंगा को प्रदूषण-मुक्त करने के लिए आवाज उठाना आज के साहित्य की मांग है।¹

कवयित्री कहती है कि श्री गङ्गा के पवित्र तट पर चौदह कार्य नहीं करने चाहिए- शौच, कुल्ला, बाल झाड़ना, निर्माल्य डालना, मैल छुड़ाना, शरीर मलना, हँसी मजाक करना, दान लेना, रति क्रिया, दूसरे तीर्थ के प्रति अनुराग, दूसरे तीर्थ का महिमागान, कपड़ा धोना, जल पीटना और तैरना। यह पद्मपुराण का भी उपदेश है।

गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य चतुर्दश विवर्जयेत्।

शौचमाचमनं केशं निर्माल्यमधमर्षणम्॥

ग्रात्रसंवाहनं क्रीडा प्रतिग्रहमथो रतिम्।

अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम्

वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारं च विशेषतः।²

अथ चतुर्दशपापमपावनं

त्रिपथगा-शुचिरोधसि कर्न्यताम्।

स्मरत पद्मपुराणवचांसि भो।

विमलवारिमयी क्रियतां पुनः॥³

आवश्यकता इस बात की है कि बहुशास्त्रविशारद विद्वान् वैज्ञानिकों, यन्त्रविदों, तकनीकी वेत्ताओं को ऐसा नवीन यन्त्र का निर्माण करना चाहिए, जिससे सभी कूड़े का ढेर नदी में गिरने के बजाय एक अलग कुण्ड में संचित हो और उसका कहीं अन्यत्र उपयोग हो।

सतत-दूषणकारिरसायनं

विविधकुत्सित-तैल-निदोहनम्।

अपि च 'सिन्धिटिके' त्यभिसंज्ञितं

रिपुदलं प्रकृतेर्विनिवार्यताम्॥^६

आज हिमालय से पेड़ों, लताओं आदि को अन्धाधुन्ध काटा जा रहा है। इस सुख-समृद्धि का हरण करने वाले विपत्ति-कारक वन-विनाश को शीघ्र रोकना चाहिए।

अहह! कर्तित-गुल्म-लता-तरुः प्रतिदिनं क्रियतेऽद्य हिमालयः।

वनविनष्टिरहो! अवरुध्यतां सुखसमृद्धिहरी विपदास्पदम्॥^७

हिमालय अनेक चमकती औषधियों, जड़ी-बूटियों और वृक्षों का उत्पत्ति-स्थल है, जहाँ से देव-नदियों के जल में अमृत बहता है। हिमालय में उत्पन्न खनिज-गन्धक धातु तथा जीवन वर्धक रसायनों से मिश्रित होकर गङ्गा की धारा बहती है, उसमें सभी पोषक तत्वों का समावेश हो जाता है, इसलिए ज्ञानी लोगों ने इसे अमृतधारा कहा है।

हिमगिरिः प्रभवो बहुभास्वताम् अपि महौषधिमूल-महीरुहाम्।

यदमृतत्वमनुत्तममासृजत् सुरसरित्पयसामतिदुर्लभम्॥

खनिज-गन्धक-धातु-रसायनैर् हिमगिरिप्रभवैश्च सुमिश्रितैः

सकलपोषकतत्त्वमयी ह्यसावमृतधारायुताऽभिमता बुधैः॥^८

अच्छे बर्तन में बहुत दिनों तक रखे रहने पर भी यह गङ्गा-जल खराब नहीं होता और अनुपम और निर्मल बना रहता है, इसलिए अमृत है।

अपि सुपात्रगतं बहुकालिकं विकृतिमभ्युपगच्छति न क्वचित्।

अनुपमं धवलं विमलं जलं तदमृतं विनुधैरभिमन्यते॥^९

ऐसी गङ्गा को आज प्रदूषण से बचाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। 'रक्षत गङ्गाम्' में कवयित्री ने इसी गङ्गा के प्रति असीम भक्ति से आध्यात्मिक मूल्य प्रकट होते हैं। साथ ही शौच (स्वच्छता व पवित्रता), भावात्मक एकता तथा समाज कल्याण जैसे मूल्यों की अभिव्यक्ति ही होती है। भारत राष्ट्र एवं भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थामयी चेतना भी डॉ. नलिनी शुक्ला के गीतों का केन्द्र बिन्दु है। उनकी कविताओं में राष्ट्रियता, विश्वमैत्री, भ्रातृभाव, स्वतन्त्रता से सम्बद्ध मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है।

डॉ. कमला पाण्डेय 'रक्षत गङ्गाम्' में युगीन जीवन का चित्रण करते हुए कहा है कि आज के युग में अनुक्षण अतिशय प्रदूषित पर्यावरण न केवल मानव-सभ्यता के लिए चिन्ता का विषय है, अपितु सकलचराचर जीवजगत् के लिए अभिशाप है। प्रकृति के प्रति किया गया अप्राकृतिक व्यवहार भावी विनाश को सूचित करता है।^{१०}

दुर्भाग्यवश दीर्घकाल तक भारत के विदेशी आक्रांताओं के अधीन हो जाने पर इस पवित्र स्रोतस्विनी में मल एवम् अन्य प्रदूषणों को मिलाने का जो उपक्रम चल पड़ा है, वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। यदि अभी भी सचेत होकर इसे प्रदूषणों से न बचाया गया तो भारतीय जन-जीवन ही नहीं, मानवता ही संकटग्रस्त हो जायेगी। अतएव गङ्गा पर गहराये इस संकट से दुःखी होकर गङ्गा की भक्ति से ओत-प्रोत सुकोमल हृदया कवयित्री की अंतर्वेदना 'रक्षत गङ्गाम्' महाकाव्य के रूप में प्रवाहित हुई है।

कवयित्री को दुःख है कि जिस निर्मल जल को सभी प्राणी सर्वदा पीते हैं, जिसके बिना जीवन धारण ही नहीं होता, वही जल आज दूषित हो गया है। उसे अब न तो प्रसन्नतापूर्वक पीया जा सकता है और जीवन के लिए आवश्यक होने के कारण छोड़ा भी नहीं जा सकता। जो पहले प्राण सञ्चारक, रोग का संहारक, अमृत की धारा के समान सफेद था, वही अब कीचड़ से सना

दुर्गन्धमय हो गया है।

यत्सदा पीयते प्राणिभिर्निर्मलं

यद् विना जीवनं धार्यते वा कथम्?

दूषितं तज्जलं शक्यते साम्प्रतं

नैव पातुं मुदा नैव हातुं सदा॥

सत्सुधाधारवच्चुभ्रमासीत् पुरा

प्राणसञ्चारकञ्चामयध्वंसकम्।

पङ्क्तिं हन्त! जातं तदेवाऽधुना

पीयतां वा कथं हीयतां वा कथम्॥¹¹

जिस गङ्गा जल का आचमन करने से भक्त स्वर्ग लोक को प्राप्त करते थे, वही आज साबुन के झाग और थूक-खखार से मिश्रित हो गया है, भला वह कैसे पीया जाय और कैसे छोड़ा जाय

फेनिलैः तद्भि निष्ठीवनैर्मिश्रितं

पीयतां वा कथं हीयतां वा कथम्॥¹²

जो गङ्गा माङ्गलिक वचनों तथा स्तुतियों से तथा गन्धअक्षत, पुष्पमाला और सुन्दर प्रदीपों से पूजी जाने योग्य है, उसी तट पर नहाने वाले लोग थूकते समय थू-थू करते हुए तिरस्कृत कर रहे हैं

तां तटेष्वागताः स्नानपानार्थिनो

हन्त! थुत्कारयन्तस्तिरस्कृवते॥¹³

जिसमें पहले सुन्दर प्रपात और नदियों का स्वच्छ जल मिलता था, उसी में हाय! आज

मूत्र-विष्ठा और कूड़े-कचरे से भरी रोगप्रद नालियाँ आ कर मिल रही हैं। आज अर्थलोलुप मनुष्य प्राण-संहारक तीव्र रासायनिक द्रवों को गड्गा में क्यों उड़ेल रहे हैं?

मूत्र-विष्ठा-मलानां प्रणाल्यः सदा सम्मिलन्तीह हा! तत्र रोगप्रदाः।

योजयन्त्यर्थलुब्धाः कथं साम्प्रतं प्राणसंहारकैरुग्रपूतिद्रवैः॥¹⁴

आज के जीवन-चर्या में प्लास्टिक का नवीन प्रयोग भूयशः हो रहा है, जो प्रदूषण का कारक है, क्योंकि उसका पृथ्वी में विलय शताब्दियों तक नहीं हो सकता। फलतः वह कूड़े-कचरे के रूप में प्रदूषण को बढ़ाता है। आज मनुष्य सिन्थेटिक पदार्थ का दैनन्दिन प्रयोग धड़ल्ले से कर रहा है और आत्मनाश को आमंत्रित कर रहा है-

जीवने गृह्यमाणाऽधुना भूयशः

‘प्लास्टिकेति’ प्रसिद्धा नवा निर्मितिः।

दूषणोत्पादिका याऽवसाने लयं

नो समीयात् पृथिव्यां शताब्दीमपि।

यच्च ‘सिन्थेटिके’ ति समाख्यायते

नूतनाविष्कृतः तैलरूपोऽशुचिः।

आत्मनाशाय कुर्वन्ति हा! मानवाः

तस्य दैनन्दिनं कुप्रयोगं हठात्॥¹⁵

रात-दिन कारखानों का कचरा गड्गा-जल में फेंका जा रहा है। इस विषैले दुर्गन्धित द्रव से जल में रहने वाला ऑक्सीजन नष्ट हो रहा है, तब जल में रहने वाले जीव-जन्तु कैसे जीवित रहेंगे और मनुष्य कैसे स्वस्थ रहेंगे?

प्राणवायुर्नदीनां प्रणष्टोऽखिलो

हा! विषाक्तेन गन्धेन सम्मिश्रितः।

जीवजाता जलीयाः कथं जीविताः

स्युः कथं मानवाः स्वस्थतामाप्नुयुः॥¹⁶

पहाड़ों में वनों की अन्धाधुन्ध कटाई से बर्फ तेजी से नष्ट हो रही है। गर्मी पड़ने से बर्फ पिघल जाती है। उससे सदैव भूस्खलन होता रहता है, जो बड़ा घातक है और अनेक प्राकृतिक आपत्तियों को देने वाला है।

पर्वतीयेऽञ्चले वन्यनाशेन हा! नश्यते शुभ्रकान्तिर्हिमानी भृशम्।

तेन चोत्पाद्यते भूक्षरं नित्यशः सर्वथाऽऽपत्करं घातकं दुर्भगम्¹⁷

वर्षों तक संग्रह कर रखने पर भी विकृत न होना कीड़े आदि उत्पन्न न होना- गड्गाजल की विशेषता है जो संसार की किसी अन्य नदी के जल में नहीं है। पाश्चात्य एवं पौरस्त्य सभी

गङ्गाजल के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसे रोगों की दिव्यौषधि मानते हैं।

हृषीकेश-कर्णपुर वर्णन के अन्तर्गत हरिद्वार, कण्वाश्रम, शुकाश्रम एवं कर्णपुर का वर्णन है। हृषीकेश का वर्णन करते हुए कवयित्री लिखती हैं जहाँ भगवान् ने कछुए के समान इन्द्रियों को समेट कर तप किया था, जो योगियों और सात्विकों की तपः स्थली है वहाँ, श्रीगङ्गा पहुँची।

कूर्मवद् विष्णुदेवो हृषीकाण्यहो!

यत्र संहृत्य तेपे तपः दुष्करम्।

योगिनां सात्त्विकानां तपस्यास्थलं

पावनं तं हृषीकेशमासादिता॥¹⁸

इसी प्रकार हरिद्वार का वर्णन कवयित्री ने आलङ्कारिक रूप में किया है श्री हरि की प्राप्ति के लिए द्वारभूत मायापुरी में आकर स्वच्छतोया गङ्गा नीलधारा के रूप में सुशोभित है। यहाँ पर सप्त ऋषियों को तृप्त करने के लिए वह एक होती हुई भी सातधाराओं में उसी प्रकार विभक्त हो गई जैसे चण्डिका शुम्भ आदि दैत्यों के विनाश के लिए एक होते हुए भी अनेक हो गई थी।

श्री हरिद्वारभूतां हरिप्राप्तये

तीर्थरूपा च मायापुरीमागता।

नीलधारास्वरूपेण विभ्राजते

स्वच्छतोया तरङ्गैयुता शीतला॥

साऽत्र शुम्भादिदैत्यान् निहन्तुं यथा-

ऽनेकरूपाऽभवच्चण्डिकैका तथा।

सप्तधारासु सप्तर्षिसन्तृप्तये

शोभिता तारिणी पापसंहारिणी॥¹⁹

तीर्थराजप्रयाग व विन्ध्यवर्णन में मुख्यतः सङ्गम का वर्णन है।²⁰ प्रसङ्गतः वाराणसी का वर्णन कवयित्री ने मनोरम ढंग से किया है, यथा-

डङ्कारं डमरोर्डमड्डमदिति श्रोतुं जटानिर्झरी

द्रष्टुं वै नटराजताण्डवमहो! सङ्गीतरत्नाकरि।

तानं दातुमिवस्वकीयलहरीतन्त्रीज्ञणत्कारिणी

गङ्गाऽनङ्गरिपोः पुरं प्रविशति ह्यावर्तताटङ्किनी॥²¹

न न र र र र र र
 ॥ । ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
 जय सुरधुनि! कोटि-पापौघसंहारि-शङ्कारि-संसारभीहारिचे-
 र र र र र र र र र र र
 ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
 तस्तमोहारि-मोहारि-चिद्धारि-चञ्चच्चमत्कारिकल्लोलितालोक-कूलङ्कषे!
 र र र र र र र
 ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
 हे जगद्वन्दिते! भ्राजतां भूतले भासतां भारते
 र र र र र र र
 ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥
 देवि गङ्गे! नमो, देवि गङ्गे! नमो, देवि गङ्गे। नमः॥

वैज्ञानिक विज्ञान की उन्नति के सूचक नाभिकीय ऊर्जा के नये-नये परीक्षण विश्व-स्तर पर कर रहे हैं, किन्तु उनके विस्फोट से उत्पन्न भीषण ज्वालाओं से होने वाली ऊष्मा में जब सम्पूर्ण सृष्टि ही पतङ्गों के समान जल जायेगी तो शक्तिमान् बनने का महत्वाकांक्षी मानव उस आत्मघाती शक्ति से कैसे उन्नति करेगा? मनुष्यों का सम्पूर्ण मानसिक कल्मष उनके कार्यों में प्रतिबिम्बित है, जो उनके जीवन को विकृत कर रहा है। इसीलिए बाह्य प्रकृति और पर्यावरण भी प्रदूषणों से त्रस्त दिखाई दे रहे हैं और गङ्गा के कमनीय कान्तियुक्त अंग भी नष्ट हो रहे हैं-

विज्ञानोन्नति-सूचकं नव-नवं यन्नाभिकीयोर्जसः

विश्वस्मिन् क्रियते परीक्षणमिदं वैज्ञानिकैर्यन्मुहुः।

तेनेयं प्रकृतिः प्रदूषणचयैः त्रस्ता दरीदृश्यते।

गङ्गायाः कमनीय-कान्तिभरितान्यङ्गानि शीर्णानि हा।²²

यह दुर्भाग्य है कि भौतिकवादी चाकचिक्य में गङ्गा आज उपेक्षित हो गई है। उसका प्रत्यक्ष नदी रूप अनुदिन प्रदूषित होता जा रहा है। यह मानव-सभ्यता के लिए महान भावी संकट का संकेत है। इस विभीषिका का अनुभव करते हुए तथा गङ्गा सम्बन्धी वर्तमान समस्याओं को उजागर करते हुए कवयित्री की काव्य-साधना 'रक्षत गङ्गाम्' के रूप में प्रवाहित हुई है, जो गङ्गा-रक्षा के लिए लोकमानस को सचेत करने का एक सार्थक प्रयास है।

1. पर्यावरण मीडिया एवं कानून-प्रो० रमेश जैन, पृ. 4

2. पर्यावरण अध्ययन - पृ. 129

3. गांडीव-गंगा-भारतीय सभ्यता, संस्कृति की धारा, 1999 (काशी समाचार)
4. ब्रह्माण्डपुराण, अध्याय - 140
5. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 6.
6. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 11.
7. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 14.
8. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 15, 16.
9. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 17.
10. पर्यावरण असंतुलन - आज की ज्वलन्त समस्या (आज 5-6-83)
पवित्र गङ्गा में भारी प्रदूषण से गङ्गा घाटी में बसी बीस करोड़ आबादी को खतरा
(आज 3-6-83) Ecological Threat from max Time of India 6-8-83.
11. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं. 4,5.
12. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं. 6.
13. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 6.
14. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं.- 9-10.
15. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 11-12.
16. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 14.
17. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं. 19.
18. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 2.
19. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 8, 9.
20. गाङ्गतोयं सितं यमुनाम्भोऽसितं
स्पर्धमानं मिथः मेलितुं चञ्चलम्।
इन्द्रनीले मणौ मौक्तिकं किन्विदं
छायया सङ्गतो भ्राजते वाऽऽतपः॥ - रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 9.
21. वही, श्लोक सं.-1.
22. रक्षत गङ्गाम्, श्लोक सं- 38-39.

उपनिषदों का कालानुक्रम

डॉ. (श्रीमती) सीमा श्रीवास्तव

प्रवक्ता दर्शनशास्त्र

राज० स्ना० महा० अगस्त्यमुनि रुद्रप्रयाग, उत्तराखण्ड

वेदों को न केवल आर्य जाति और भारतीय परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थों के रूप में मान्यता प्राप्त है वरन् विश्व साहित्य के भी आरम्भिक ग्रन्थों के रूप में वेदों की प्राचीनता निर्धारित की गई है। लेकिन वेद अपने आप में केवल एक ग्रन्थ नहीं है बल्कि ग्रन्थों की एक शृंखला है जिनका क्रमबद्ध संकलन किया गया है। इसका आरम्भ मन्त्रों से किया गया है। मन्त्रों के समूह को संहिता कहा जाता है। संहिताएं चार हैं-ऋक्, साम, यजुः एवं अथर्व, जिन्हें हम चार वेदों के नाम से जानते हैं। किन्तु वैदिक ग्रन्थों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गयी जिनका मुख्य विषय यज्ञ विधान है जिसमें विभिन्न प्रकार के याज्ञिक कर्मकाण्डों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यकों की रचना की गयी, जिन्हें यह नाम एकान्त में पठनीय होने के कारण दिया गया है। इन्हें वेदों का उपासना भाग भी कहा जाता है। यहीं पर वेदों की दिशा कर्म से ज्ञान की ओर संक्रमण करते हुए दिखलाई पड़ती है। इसके पश्चात् उपनिषदों की रचना की गई जिन्हें वेदों के ज्ञान भाग के रूप में स्वीकार किया जाता है। वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। किन्तु यहां अन्त शब्द का तात्पर्य चरम दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में लेना अधिक प्रासंगिक होगा।

अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्म के गूढ़ विषय के रूप में वेदों का चरम दार्शनिक सिद्धान्त उपनिषदों में ही व्यक्त होता है। उपनिषदों की संख्या लगभग एक सौ बारह बतायी जाती है। लेकिन मुक्तिकोपनिषद् में इनकी संख्या एक सौ आठ दी गयी है-

1. ईश 2. केन 3. कठ 4. प्रश्न 5. मुण्डक 6. माण्डूक्य 7. तैत्तिरीय 8. एतरेय 9. छान्दोग्य 10. वृहदारण्यक
11. श्वेताश्वतर 12. कौषीतकी 13. मैत्रेयी 14. कैवल्य 15. जाबाल 16. ब्रह्म बिन्दु 17. हंस 18. आरुणिके 19. गर्भ 20. नारायण 21. परमहंस 22. ब्रह्म 23. अमृतनाद 24. अथर्वशिरस 25. अथर्वशिखा
26. मैत्रायणी 27. नृसिंहपूर्वतापिनी 28. नृसिंहोत्तरतापिनी 30. कालागिरुद्र 31. सुबाल 32. क्षुरिका 33. यन्त्रिका 34. सर्वसार 35. निरालम्ब 36. शुकरहस्य 37. वज्रसूपिका 38. तेजोबिन्दु 39. नादबिन्दु 40. ध्यानबिन्दु 41. ब्रह्मविद्या 42. योगतत्त्व 43. आत्मबोध 44. नारदपरिवाजक 45. त्रिशिखब्राह्मण 46. सीता 47. योगकुमुदिनी 48. निर्वाण 49. मंडल ब्राह्मण 50. दक्षिणमूर्ति 51. शरभ 52. स्कन्द 53. त्रिपाद्विभूति महानारायण 54. अद्वयतारक 55. रामरहस्य 56. रामपूर्वतापिनी 57. रामोत्तरतापिनी 58. वसुदेव 59. मुद्गल 60. शांडिल्य 61. पिंगल 62. भिक्षुक 63. महा 64. शारीरिक 65. योगशिक्षा 66. तुरियातीत 67. संन्यास 68. परमहंसपरिव्राजक 69. अक्षमाला 70. अव्यक्त 71. एकाक्षर 72. अन्नपूर्णा

73.सूर्य 74.अक्षि 75.अध्यात्म 76.कुंडिक 77.सावित्री 78.आत्मा 79.पाशुपत ब्रह्म 80.परब्रह्म 81.अवधूत 82.त्रिपुरतापिनी 83.देवी 84.त्रिपुरा 85.कठरुद्र 86.भावना 87.रुद्रहृदय 88.योगकुंडिली 89.भस्मजावाल 90.रुद्राक्ष 91.गणपति 92.जाबालदर्शन 93.तारसार 94.महावाक्य 95.पंचब्रह्म 96.प्राणाग्निहोत्र 97.गोपालपूर्वतापिनी 99.कृष्ण 100.याज्ञवल्क्य 101.वाराह 102.शाट्यायनीय 103.ह्यग्रीव 104.दत्तात्रेय 105.गरुड़ 106.कलिसंतरण 107.जाबालि 108.सौभाग्यलक्ष्मी।

प्रथम 13 उपनिषदों को छोड़ शेष उपनिषद् उत्तरकालीन हैं। इन उपनिषदों और उसकी ब्रह्म विद्या पर व्यापक चर्चा की जाती रही है किन्तु उपनिषदों के कालानुक्रम पर गूढ़ता से विचार नहीं किया गया। अतः प्रस्तुत शोध पत्र का विषय उपनिषदों के कालानुक्रम के लिये अपनाये गये विभिन्न सिद्धान्तों का मूल्यांकन करते हुये एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना है।

सर्वप्रथम प्राचीन एवं नव्य उपनिषदों को दो पृथक्-पृथक् समूहों में विभाजित करना होगा। प्राचीन विभाग में 13 उपनिषद् और नव्य विभाग के शेष उपनिषदों की प्रामाणिकता अभी सिद्ध नहीं है। डॉ० श्रेडर द्वारा अन्वेषित चार उपनिषद् बाष्कल, छाग्लेय, आर्षेय और शौनक की प्रामाणिकता अभी सर्वसम्मत सिद्ध नहीं है। महानारायणोपनिषद् भी परवर्ती युग की रचना सिद्ध हो चुकी है।

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार तेरह प्राचीन उपनिषदों का यह क्रम इस प्रकार है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी, मैत्री। किन्तु उपनिषदों का यह क्रम कालक्रमानुसार नहीं है। वर्तमान साहित्य समालोचना की दृष्टि से तथा उपनिषदों के इतिहासमूलक शास्त्रीय महत्व निर्धारण के लिये उनका कालक्रम निर्धारण जरूरी है।

उपनिषद् के कालक्रम विधान की कई कसौटियाँ हैं—

1. भाषा शैली, शब्दावली, विभक्ति, प्रत्यय आदि व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं के द्वारा उपनिषद् के कालनिर्धारण का प्रयास किया जाता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि कोई प्राचीन उपनिषद् प्रसाद शैली में लिखी गई हो जबकि नई उपनिषद् प्राचीन शैली में लिखी गई हो।

2. गद्य पद्य का विभाजन उपनिषद् के काल निर्धारण का एक मापदण्ड माना जाता है। डायसन जैसे समीक्षकों का मानना है कि प्राचीनतम उपनिषद् गद्य में लिखी गई जबकि परवर्ती उपनिषद् पद्य में लिखी गई। इनके अतिरिक्त कुछ उपनिषद् पुनः गद्य में लिखी गई। किन्तु वर्तमान समालोचनात्मक दृष्टि से इसमें कोई तथ्य नहीं है।

3. मूलभाव के क्रमिक विस्तार की कसौटी कुछ विश्वसनीय जान पड़ती है लेकिन यह भी निर्णायक नहीं मानी जा सकती है। कुछ उपनिषदों में इन्द्रियान्तर्गत कलह के आधार पर कालक्रम निरूपण किया जाता है जैसे छान्दोग्य, वृहदारण्यक, एतरेय, कौषीतकी और प्रश्न उपनिषद् में इस उपाख्यान के विकास विस्तार के आधार पर इनके क्रम और पारस्परिक प्राचीनता और

नवीनता का अनुमान लगाया जाता है।

4. विचार परिणति के विकास की कसौटी भी उपनिषदीय कालक्रम निर्धारण की एक कसौटी है जो कुछ कठिन होते हुए भी निरुपादेय नहीं है। जैसे आत्मा परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना जो कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाई जाती है, इन उपनिषदों के कालक्रम निर्धारण की आधार है। कठोपनिषद् में आत्मा परमात्मा एक ही कोटि पर मानी गई है। वे समान रूप से अपने कर्मफल का उपभोग करती है। मुण्डकोपनिषद् में केवल एक के कर्मफल उपभोग का उल्लेख है जबकि दूसरी निरीक्षक मात्र है। श्वेताश्वतर, मुण्डकोपनिषद् की कल्पना में रक्त श्वेत कृष्ण वर्ण युक्त त्रिगुणात्मिका और अजात प्रकृति का योग कर दिया गया है। आत्मा इन तीनों गुणों का उपभोग करती है किन्तु विश्वात्मा इनसे अलिप्त है। इस प्रकार हमें कठोपनिषद् से लेकर मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पना का क्रमिक विकास दिखाई देता है।

5. पांचवीं कसौटी जिसे प्रो० कीथ जैसे समीक्षकों ने अधिक महत्व दिया है वह उपनिषदों की पुनर्जन्म कल्पना के विकास के चतुर्दिक केन्द्रीभूत है। जिस प्रकार प्लेटो के संवादों का कालक्रम निर्धारण उसके परम स्वरूप प्रत्यय सिद्धान्त के विकास के आधार पर किया गया है, उसी प्रकार यहां भी उपनिषदों की पुनर्जन्म की कल्पना के विकास के आधार पर उनके कालक्रम विधान का प्रयत्न किया गया है। इस प्रणाली की प्रकृति का आधार निषेधात्मक है। किसी उपनिषद् में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव उसकी प्राचीनता का प्रमाण नहीं है क्योंकि यह हो सकता है कि पुनर्जन्म की कल्पना का उसके वस्तु-तत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं हो ऐसे में उसमें पुनर्जन्म का उल्लेख न होना स्वाभाविक है। प्रो० कीथ का मानना है कि एतरेय आरण्यक, विशेष रूप से उसका पूर्वांश अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन माना जाना चाहिए क्योंकि इसमें पुनर्जन्म की चर्चा नहीं है। इन समीक्षकों का मानना है कि पुनर्जन्म की कल्पना एक परवर्ती युग की सृष्टि है। एतरेय आरण्यक के दूसरे भाग के पांचवें अध्याय में, जहाँ मनुष्य के मरणोपरान्त जीवन धारण का उल्लेख है, जिसे वह 'तीसरा जन्म' बतलाता है पुनर्जन्म की कल्पना का स्पष्ट निदर्शन है।

6. अन्तिम मापदण्ड अन्तर अवतरण का आधार उपनिषदीय कालक्रम निर्धारण हेतु अधिक निश्चयात्मक माना जा सकता है। उपनिषदों में प्रायः एक दूसरे से उद्धृत अवतरण पाये जाते हैं जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् के 'पंचीकरण' का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में लगभग उन्हीं शब्दों में पाया जाता है। इस आधार पर तैत्तिरीयोपनिषद् को बृहदारण्यकोपनिषद् से परवर्ती कहा जा सकता है किन्तु इस कसौटी की सीमा यह है कि उपनिषदों में पाए जाने वाले अन्तर अवतरणों की संख्या कम ही है।

इन मापदण्डों के आधार पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं-

डॉ० एस० एन दासगुप्ता प्रारंभिक उपनिषदों को ईसा से 500 वर्ष पूर्व की लिखी गई

मानते हैं जबकि नवीन उपनिषदें मुस्लिम काल तक लिखी जाती रहीं। इनका कहना है कि सबसे प्रमुख एवं प्रारंभिक उपनिषदें वे हैं जिन पर शंकराचार्य ने भाष्य किया है, जैसे बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य।

ड्यूसन महोदय कौषीतकी को भी प्रारंभिक उपनिषदों में से एक मानते हैं। मैत्रायणी को मैक्समूलर एवं श्रोडर प्रारंभिक उपनिषद् मानते हैं जबकि ड्यूसन महोदय इसे परवर्ती मानते हैं। विंटरनीज उपनिषदों को चार काल में विभक्त करते हैं- 1. बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकी, केन 2. कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक, महानारायण, 3. प्रश्न, मैत्रायणी, माण्डूक्य 4. शेष उपनिषद्।

डॉ० राधाकृष्णन का भी मत है कि कुल एक सौ आठ में से लगभग दस प्रधान प्राचीन एवं प्रामाणिक उपनिषदें वे ही हैं जिन पर शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है किन्तु इनके निर्माण की निश्चित तिथि हम निर्धारित नहीं कर सकते। कुछ प्रारम्भिक उपनिषदें निश्चित रूप से बौद्ध काल के पूर्व की हैं और बौद्ध काल के बाद की हैं। सम्भवतः इनका निर्माण वैदिक सूक्तों की समाप्ति और बौद्ध धर्म के आविर्भाव अर्थात् छठी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य में हुआ होगा। इनका मानना है कि प्रारम्भिक उपनिषदों के निर्माण काल एक हजार ईसा पूर्व से तीन सौ ईसा पूर्व एवं परवर्ती उपनिषदें जिन पर शंकराचार्य ने भाष्य लिखा बौद्धकाल के पीछे चार सौ या तीन सौ ईसा पूर्व के बीच की हों। सबसे पुरानी वे हैं जो गद्य में लिखी गयी हों। ये सम्प्रदायवाद से रहित हैं। ऐतरेय, कौषितकी, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक के अलावा केन उपनिषद् के कुछ पुराने भाग हैं। केनोपनिषद् के 1 से 13 मंत्र, बृहदारण्यक के 4 : 8 से 21 तक छन्दोबद्ध होने के कारण संक्रमण के प्रतीत होते हैं। कठोपनिषद् के स्थान पर अन्य उपनिषद् एवं भगवद्गीता के उद्धरण यह दर्शाते हैं कि यह गीता के बाद का उपनिषद् है।

प्रारम्भिक गद्यात्मक उपनिषदों में अधिकतर शुद्ध कल्पना पाई जाती है जबकि परवर्ती उपनिषदों में अधिकतर धार्मिक पूजा और भक्ति का समावेश है। उपनिषदों के दार्शनिक तत्वों को ध्यान में रखते हुए हमारा मुख्य विमर्श बौद्धकाल से पूर्व के उपनिषदों से ही है।

ड्यूसन ने उपनिषदों का इस प्रकार क्रम निर्धारित किया है- 1. प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदें- बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषितकी, केन (जो गद्यात्मक अंश है)। 2. छन्दोबद्ध उपनिषदें- ईश, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर। 3. परवर्ती गद्य-प्रश्न और मैत्रायणी।

उपरोक्त सभी उपनिषदों (मैत्रायणी को छोड़कर) की गणना प्रतिष्ठित उपनिषदों में होती है मैत्रायणी के बारे में मैक्डॉनेल लिखते हैं कि "अन्य उपनिषदों के दिए गये अनेक उद्धरण, कितने ही परवर्ती शब्दों का प्रयोग विकसित सांख्य सिद्धान्त का समावेश जिसकी पहले से कल्पना कर ली गई है, अवैदिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों का विशद वर्णन- यह सब एकत्र होकर इस उपनिषद् को बहुत पीछे का मानने में कोई सन्देह नहीं रहने देते। वस्तुतः यह एक प्रकार से प्राचीन

उपनिषदों के सिद्धान्त सांख्य दर्शन एवं बौद्ध मत के विचारों के साथ मिश्रित करके प्रस्तुत किया गया ग्रन्थ है।" (संस्कृत लिटरेचर पृ० 230)

डॉ० संगमलाल पाण्डेय का भी मानना है कि यद्यपि उपनिषदों की रचना कालक्रम के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है फिर भी प्राचीन उपनिषदों को ईसा पूर्व छठी शताब्दी की एवं शेष उपनिषदों को ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व किसी समय की मानते हैं।

डॉ० रानाडे का मत है कि यदि विभिन्न उपनिषदीय स्तरों और उनके निर्माण मूलक तत्वों को इकाइयों के आधार पर विभाजन करें तो उपनिषदीय कालक्रम निर्धारण अत्यन्त दुष्कर है किन्तु सामूहिक दृष्टि से तेरह प्राचीन उपनिषदों को पांच समूहों में बांटा जा सकता है-

1. बृहदारण्यक और छान्दोग्य

2. ईश और केन

3. ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषितकी

4. कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर

5. प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य

विभिन्न स्तरों की तत्व इकाइयों होते हुए भी अध्ययन की दृष्टि से बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य प्राचीनतम उपनिषद् ठहरते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में जिस प्रकार याज्ञवल्क्य श्रेष्ठ तत्वज्ञानी के रूप में उल्लिखित है उसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि आरुणि का स्थान है। शतपथब्राह्मण के अनुसार याज्ञवल्क्य ऋषि आरुणि के शिष्य थे। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के पांचवें अध्याय में जैवली का परलोक सिद्धान्त है जो बृहदारण्यकोपनिषद् के परलोक सिद्धान्त से बहुत कुछ साम्य रखता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय में राजा अजातशत्रु का गार्ग्य नामक अभिमानी ब्राह्मण के साथ संवाद है। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद सनत्कुमार एवं आठवें अध्याय में इन्द्र विरोचन संवाद इनकी प्राचीनता का द्योतक है। बृहदारण्यक उपनिषद् का अन्तिम अध्याय ब्राह्मण कालीन कुछ मन्त्रों के साथ समाप्त होता है जिसमें अन्य बातों के साथ ऋषि वंशगत परम्परा दी गई है और इससे भी बृहदारण्यकोपनिषद् प्राचीन सिद्ध होता है। यदि उपनिषदीय वांगमय में ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्डों का सबसे अधिक प्रभाव देखना चाहें तो छान्दोग्योपनिषद् के पहले तथा दूसरे अध्याय की ओर संकेत मात्र पर्याप्त होगा।

छान्दोग्योपनिषद् में जब आरुणि की एक महान् तत्वज्ञानी के रूप में ख्याति हो गई तो अन्य उपनिषदों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए उनका सहयोग पाने की चेष्टा नहीं की। कौषितकी जैसे परवर्ती उपनिषद् में उन्हें एक साधारण पात्र के रूप में स्थान मिला है। छान्दोग्योपनिषद् में निश्चित रूप से आरुणि का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु परवर्ती शास्त्रकारों ने साधरण व्यापारों के लिए उनके नाम का दुरुपयोग किया है।

ईश, केन अपेक्षाकृत परवर्ती युग की सृष्टि है। ईशोपनिषद् की भाषा उसके भाव तथा आर्ष

प्रयोग और विशेष रूप से बृहदारण्यक केन उपनिषदों के समान उपादान तत्त्व दूसरे विभाग के निर्माण तत्त्व माने जा सकते हैं। केन उपनिषद् भी इसी श्रेणी में आता है।

तीसरे विभाग में तैत्तिरीयोपनिषद् और ऐतरेय उपनिषद् के साथ कौषितकी को भी रखा जाता है जो मौलिक न होते हुए भी अपने मूल अंशों के आधार पर ऐतरेय और तैत्तिरीयोपनिषद् के साथ है। ऐतरेय उपनिषद् वस्तुतः ऐतरेय आरण्यक का अंश है जिसका विस्तार आरण्यक के दूसरे और चौथे खण्ड उस अध्याय के अन्त तक है जो इसे बृहदारण्यक उपनिषद् के बाद का बताते हैं। कौषितकी उपनिषद् का पहला अध्याय छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के बालाकी तथा अजातशत्रु की कथा की पुनरावृत्ति मात्र है जिससे यह उपनिषद् बृहदारण्यक और छान्दोग्य के बाद का सिद्ध होता है।

पूर्ण रूप से निश्चित चौथे विभाग में कठोपनिषद् के बाद मुण्डकोपनिषद् और उसके बाद श्वेताश्वतरोपनिषद् आते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राचीन आर्ष प्रयोगों की झलक है तथा पहले और शेष अध्यायों में पर्याप्त भिन्नता है। कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद् एक-दूसरे से जितना निकट सम्बन्ध रखते हैं उतना अन्य कोई नहीं। काव्यमय शैली द्वारा उच्चतम दार्शनिक सत्यों का निरूपण करना इन सबका उद्देश्य है। यही कारण है कि भगवद्गीता व अन्य दार्शनिक काव्य इन्हीं के आधार पर लिखे गए हैं। इनमें परस्पर इतना ही अन्तर है कि कठोपनिषद् परतत्त्व सम्बन्धी, मुण्डकोपनिषद् भावना प्रधान तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में तत्त्व एवं रहस्यवाद दोनों पर जोर दिया गया है। तीनों ही उपनिषद् उस समय की रचना प्रतीत होती है जब सांख्य और वेदान्त अलग-अलग पन्थों का निर्धारण नहीं कर पाए थे।

मुण्डकोपनिषद् जैसा कि नाम से विदित है मुण्डित संन्यासियों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। अतः वस्तु-तत्त्व के अनुकूल यह परवर्ती संन्यास उपनिषदों में ही गिनी जा सकती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के पहले अध्याय में कठोपनिषद् के समान आत्मवाद पर चर्चा है। पांचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में 'कपिल' शब्द की व्युत्पत्ति है। अन्तिम अध्याय साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि से बाहर है। इस समूह के अन्य उपनिषदों की भांति श्वेताश्वतर उपनिषद् भी ऐसे युग में लिखी गई जब सांख्य और वेदान्त पृथक्-पृथक् विचारधाराएं नहीं थी। चौथे अध्याय के पांचवें श्लोक के तीन गुणों की कल्पना जिसका मूल छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय में पाया जाता है, अभी सांख्य और वेदान्त दोनों की संयुक्त सम्पत्ति थी। सांख्य का मनोविज्ञान तथा परतत्त्वशास्त्र पृथक् नहीं हुआ था। इन्हीं कारणों से हम कह सकते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद् जिसमें सांख्य और वेदान्त के सृष्टि विधानशास्त्र, मनोविज्ञान तथा परतत्त्वशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त सम्मिलित हैं, इन दो महान् दर्शन पद्धतियों के पृथक्-पृथक् विचार पन्थ ग्रहण के पूर्व मूल रूप के अध्ययन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

पांचवें विभाग में प्रश्नोपनिषद् जिसकी अन्य से एकसूत्रता देती है, के साथ मैत्री एवं

माण्डूक्य उपनिषद् आते हैं। मैत्री उपनिषद् की निजी शब्दावली, अपने पौराणिक और ज्योतिष ऊंकार की तीन मात्राओं के स्थान पर साढ़े तीन मात्राओं का उल्लेख आदि कई विषयों में मैत्री उपनिषद् के विचारों का विकास माण्डूक्योपनिषद् में दिखाई देता है। भावव्यंजना की सूत्रात्मक शैली के कारण माण्डूक्योपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम उपनिषद् मानी जा सकती है। प्रश्नोपनिषद् इतिहास में स्पष्टतः परवर्ती युग की रचना है। प्रश्नोपनिषद् की प्रकृति, भाषा-शैली और विवेचन पद्धति अपेक्षाकृत परवर्ती युग की है। मैत्री उपनिषद् भी शब्दावली और प्रसंगों की दृष्टि से विशेष है। इसके प्रतिपाद्य विषय केवल प्राचीन उपनिषदीय तत्व सिद्धान्त की समीक्षा है। सांख्य और बौद्ध दर्शन के प्रभावोन्माद में राजा बृहद्रथ का परिणाम इस उपनिषद् में है जिससे यह चौथे विभाग के उपनिषदों के बाद की रचना सिद्ध होती है।

माण्डूक्योपनिषद् जो प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम है, परवर्ती वेदान्त दर्शन की चिरन्तन मूल स्थापना करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह ऊंकार को तीन मात्राओं में विभाजित करती है और साथ ही एक मात्राहीन चौथा भाग जोड़ देती है। ऊंकार की मात्राओं के अनुरूप ही मानसिक स्थिति की विविध अवस्थाएं तथा आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रकार माने गए हैं। माण्डूक्योपनिषद् की मौलिकता जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार मानसिक अवस्थाओं की कल्पना है।

इनमें से किसी भी उपनिषद् का काल निर्धारण ठीक-ठीक करना कठिन है किन्तु ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी से छठीं शताब्दी को उपनिषदीय युग की दो सीमाएं मानना उचित जान पड़ता है। इसकी परवर्ती उपनिषदें औपनिषदीय युग तथा उत्तर औपनिषदीय युग की विचारधाराओं का संगम जान पड़ती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-एक) डॉ० सुरेन्द्र नाथ गुप्ता
2. भारतीय दर्शन (भाग-एक) डॉ० राधाकृष्णन
3. भारतीय दर्शन स्ट्राउस
4. केम्ब्रिज भारतीय इतिहास भाग एक अध्याय पांच प्रो० कीथ
5. उपनिषदीय दर्शन डायसन
6. उपनिषदीय दर्शन डॉ० राधाकृष्णन्
7. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण डॉ० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे
8. भारतीय अध्ययन वेबर
9. संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रो० मैक्डानल
10. भारतीय साहित्य की मीमांसा विंटरनीज
11. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण डॉ० संगमलाल पाण्डेय

जौनसारी जनजाति

डॉ० कामना चैन

प्रवक्ता राजनीति विज्ञान विभाग

एस0एस0डी0 स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, रुड़की

भौगोलिक स्थिति :

जौनसार बावर गढ़वाल प्रखण्ड के उत्तर पश्चिमी भाग में 30°-3' से 31°-2' उत्तरी अक्षांश तथा 77°-42' से 78°-4' पूर्वी देशान्तर तक 2639 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला एक पहाड़ी प्रदेश है। इसके उत्तरपूर्व में उत्तरकाशी एवं टिहरी जनपद तथा पश्चिम में हिमाचल प्रदेश का सिरमौर जनपद तथा दक्षिण में देहरादून स्थित है। देहरादून के चकराता एवं कालसी विकासखण्डों के लगभग 356 ग्रामों में निवास करने वाले जौनसारी जनजाति की वर्ष 2001 की जनगणनानुसार कुल जनसंख्या 1,18,667 है। इण्डो आर्यन परिवार की यह जनजाति अपनी विशिष्ट वेशभूषा, परम्पराओं, सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों जादू टोने की परिपाटियों तथा अर्थव्यवस्था के लिए जानी जाती है। 'जौनसारी' और 'जौनसारी टाइप' एक ऐसे लोगों का समूह है जो कि पृथ्वी पर स्वर्ग के समान घिरे हुए स्थान पर रहते हैं। जिनकी महिलाएं अप्सराओं की तरह नृत्य करती हैं तथा बुलबुल की तरह गाती हैं। फ्रेजर भी लिखते हैं, "यहाँ कहीं खुली घाटी नहीं, कहीं समतल मैदानी टुकड़ा नहीं जिस पर खुशी से आँखें टिक सकें।" जमीन खड़ी और कठिन है। या तो थकाऊ चढ़ाई है या गहरा उतार। यहाँ की भौगोलिक विशेषता वह पहाड़ी धार है जो टोंस और यमुना नदियों के प्रवाह क्षेत्र को तय करती है। समुद्र तल से इसकी ऊँचाई तिलवाड़ व हरिपुर में जहाँ लगभग 1500 फुट है वहीं देवबन व खंडावा की ऊँचाई लगभग 10,000 फुट है। गढ़वाल से जमना (यमुना नदी) पार होने के कारण यह क्षेत्र 'जमना पार' कहलाया जो कालान्तर में जौनसार हो गया और सुदूर उत्तर में "पावर" नदी के कारण यह क्षेत्र "बावर" कहलाया। इस प्रकार इस पूरे क्षेत्र का आधुनिक नाम "जौनसार बावर" पड़ गया।

जौनसार बावर का संक्षिप्त इतिहास :

जौनसार बावर अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक स्थान विशेषताएँ हैं जिसकी चर्चा स्कन्ध पुराण तक में है। नवीन इतिहास में जौनसार बावर सिरमौर नाहर (यह क्षेत्र अब हिमाचल प्रदेश के अंतर्गत आता है) के राज्य में शामिल था। अमर सिंह थापा व हस्तीदल चौतरिया के नेतृत्व में गोरखाओं का आक्रमण फरवरी सन् 1803 ई० में कुमाऊँ गढ़वाल पर हुआ। बढ़ते-बढ़ते यह जौनसार व सिरमौर से आगे पहुँच गए व इन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। 1 नवम्बर 1814 को

अंग्रेजों को भी गोरखों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। अंग्रेज लेखक जी०आर०सी० विलियम्स के अनुसार जौनसारियों ने भी इस युद्ध में अंग्रेजों का साथ दिया क्योंकि वे गोरखों के अत्याचार से तंग आ चुके थे। अंग्रेजों ने नाहन को गोरखों से मुक्त कराया और 4 दिसम्बर 1814 को वैराटगढ़ खाली होने के साथ ही अंग्रेजों की दून व जौनसार विजय पूरी हो गयी। 6 वर्षीय फतेहप्रकाश को उसकी माता महारानी गुलेरी के संरक्षण में नाहन का राजा बनाया गया। युद्ध के हर्जाने के रूप में महारानी गुलेरी ने जौनसार बावर को अंग्रेजों को हर्जाने की रकम लौटानी चाही तो उन्होंने उसे लेने से इन्कार कर दिया और सन् 1828 में चकराता तहमील का देहरादून जनपद में मिला दिया। इस प्रकार जौनसार बावर सदा के लिए रियासत सिरमौर से अलग हो गया।⁷

शासन पद्धति :-

अंग्रेज लेखक जी०आर०सी० विलियम्स लिखते हैं कि उन दिनों जौनसार बावर का शासन एक विशेष पद्धति से चलता था। सम्पूर्ण परगने को उपखण्डों या खत्तों में बांटा गया था। जिसकी संख्या उस समय 35 थी। प्रत्येक खत्त का प्रशासक एक सदर स्याणा⁸ (सबसे समझदार) होता था। सदर स्याणे का पद वंशानुगत होता था। चार प्रमुख सदर स्याणे होते थे जिन्हें 'चौतुरू' कहते थे। इस प्रकार यह इस क्षेत्र की सीनेट थी, जो सम्पूर्ण क्षेत्र पर नियंत्रण रखती थी। सरकार को नियमित रूप से मालगुजारी मिलती रहती थी। वह स्याणों के काम में दखल नहीं देती थी। अंग्रेजों ने चकराता को इस क्षेत्र का मुख्यालय व अपनी छावनी बनाने का निश्चय किया। चकराता छावनी बनने से चकराता में एक बाजार बन गया। जिससे सम्पूर्ण जौनसार बावर को सुविधा हो गयी।

जौनसार बावर में सन 1872 ई० का बंदोबस्त बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें पहली बार प्लेन टेबल विधि से सारी जमीन नापी गयी। इस बंदोबस्त के नक्शे व अभिलेख आज भी प्रमाणिक माने जाते हैं। 1872 में यहाँ खत्तों की संख्या भी 37 हो गयी। सन् 1953 ई० में उत्तर प्रदेश पंचायत राज एक्ट 1947 इस क्षेत्र पर भी लागू हुआ और सम्पूर्ण क्षेत्र में ग्राम सभायें, ग्राम पंचायतें व न्याय पंचायतें चुनी गईं। मालगुजारी वसूल करने का काम भी सदर स्याणों के स्थान पर अमीनों को दे दिया गया। तब से यही व्यवस्था उत्तरप्रदेश क्षेत्र समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम 1961 की व्यवस्थाओं के साथ लागू रही।⁹ सन् 2000 में उत्तरांचल राज्य बनने के पश्चात् जौनसार क्षेत्र में भी पंचायतों की नयी व्यवस्था लागू की गयी।

जौनसारी जनजाति का जनसंख्यात्मक विवरण :

देहरादून जनपद में रहने वाली अनुसूचित जाति व जनजाति की जनसंख्या अग्र तालिका में प्रदर्शित है।

तालिका संख्या:1 : देहरादून जनपद में अनुसूचित जाति/जनजाति की जनसंख्या वर्ष 2001 की जनगणनानुसार

	कुल जनसंख्या		पुरुष		महिला	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
अनुसूचित जाति	173448	13.5	91925	7.02	81523	6.3
अनुसूचित जनजाति	99329	7.7	51922	4.0	47407	3.7
जनपद की कुल जनसंख्या	1282143	100	679583	53	602560	46.9

स्रोत : अर्थ एवं संख्या अधिकारी कार्यालय, देहरादून

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देहरादून जनपद की कुल जनसंख्या का 13.5 प्रतिशत भाग अनुसूचित जाति एवं 7.7 प्रतिशत भाग अनुसूचित जनजाति का है। देहरादून से लगे जौनसारी बाबर क्षेत्र में जौनसारी जनजाति निवास करती है। जौनसारी-बाबर का अधिकांश क्षेत्र देहरादून जनपद के चकराता व कालसी विकासखण्डों के अन्तर्गत आता है।

तालिका संख्या-2 : कालसी व चकराता विकासखण्डों का जनसंख्यात्मक विवरण

विकासखंड	क्षेत्र की कुल जनसंख्या		अनुसूचित जाति		अनुसूचित जनजाति	
योग	पुरुष	महिला	योग	पुरुष	महिला	योग
चकराता	63340	33530	29810	18648	9856	8792
कालसी	55327	28789	26538	15257	8055	7202
कुलयोग	118667	62319	56348	33905	17911	15994

स्रोत : अर्थ एवं संख्या अधिकारी कार्यालय, देहरादून

तालिका संख्या -2 द्वारा स्पष्ट है कि चकराता एवं कालसी विकास खंड में सर्वाधिक संख्या में अनुसूचित जनजाति ही निवास करती है। और तालिका द्वारा यह भी ज्ञात होता है, कि कालसी विकासखंड की अपेक्षा चकराता विकासखंड की जनसंख्या अधिक है।

सामाजिक व्यवस्था :

जौनसारी जनजाति के लोग स्वयं को पांडवों का वंशज मानते हैं। अतः यहाँ द्रौपदी विवाह अत्यंत चर्चित है। इस समाज में केवल बड़ा भाई विवाह करता है उसकी पत्नी सभी भाइयों की पत्नी मानी जाती है। इस समाज में अब नई शिक्षा के प्रसार से यह प्रथा लगभग समाप्त प्राय होने की दिशा में अग्रसर है। इसके बावजूद इस क्षेत्र में संयुक्त परिवार प्रथा विद्यमान है। परिवार के

बाद गाँव आता है। गाँव का मुखिया 'ग्राम स्याणा' होता है। परिवारों में विवाद होने पर वह गाँव की सभा बुलाता था। जी०आर०सी० विलियम्स अपनी पुस्तक 'मेमोआयरस ऑफ देहरादून' में इस न्यायव्यवस्था की प्रशंसा में लिखते हैं कि यह न्यायव्यवस्था इतनी सही, निष्पक्ष, सस्ती व प्रभावकारी थी कि सरकारी कर्मचारी तक अपने विवाद सरकारी अदालतों में न ले जाकर इन पंचायतों में ले जाते थे।

जौनसार बावर की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार किसी व्यक्ति के जीवन में जन्म से मृत्यु तक समाज की पूरी सहभागिता है। यदि किसी परिवार में मृत्यु हो जाती है तो मृतक की शवयात्रा शुरू होने के बाद गाँव के प्रत्येक घर से महिलायें निर्धारित मात्रा में दाल, चावल व आटा मृतक के परिवार में देने जाती हैं। जिसे मृतक के परिवार को स्वीकार करना पड़ता है।¹⁰ जौनसारी परिवारों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था पायी जाती है। सामाजिक स्तरों के आधार पर जौनसारी जनजाति मुख्यतः तीन वर्गों में बंटी हुई है।

प्रथम :- खस के अन्तर्गत ब्राह्मण व राजपूत जातियाँ समाविष्ट की जाती हैं।

द्वितीय :- कारीगर या शिल्पी का है, एवं

तृतीय :- वर्ग में हरिजन है।¹¹

वैसे यह पूरी आबादी खसिया है। जो सामान्य रूप से ब्राह्मण, राजपूत और डोम में बँटी है। ब्राह्मण मुख्यतः भट्ट और सारस्वत हैं। राजपूत रावत हैं और डोम आबादी अपने पेशे के अनुसार लोहार, बढ़ई और बाजीगर हैं।¹²

डॉ० खन्ना का मानना है कि खस, जो कि लम्बे व गोरे होते हैं वे मंगोल व डोम के मिश्रित रक्त से उत्पन्न भूमध्य सागरीय प्रजाति से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।¹³ ग्रियर्सन कहते हैं ये खस जाति पश्चिमी पंजाब (वर्तमान में पाकिस्तान) की हिन्दुकुश एवं उससे लगी पहाड़ियों के आसपास रहती थी। आर्यों ने पाया कि उनकी सामाजिक रीतियाँ उनसे बहुत अलग हैं। तब आर्यों ने उनका बहिष्कार कर दिया तथा उन्हें और ऊपरी पहाड़ियों पर जाने को विवश कर दिया।¹⁴ सामाजिक व्यवस्था के द्वितीय वर्ग अर्थात् कारीगर वर्ग के अन्तर्गत लुहार, सुनार, बढ़ई, बाजगी आदि लोग सम्मिलित हैं। यहाँ तृतीय स्तर पर कोल्टा-कोली वर्ग आता है। उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार होता है। वे मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकते। कोल्टा महिला स्वर्ण आभूषण नहीं पहन सकती। कोल्टा भी चार प्रकार के होते हैं :-

खण्डित, मुण्डित, मट एवं संजायत।

जौनसारी समाज में महिला स्थिति :

किसी भी समाज की उन्नति का मापदण्ड उस समाज की स्थिति से आंका जाता है।

जौनसारी समाज में महिलाओं की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा हीन है। लड़की के जन्म के साथ ही उसके साथ एक अलग प्रकार का व्यवहार होना प्रारम्भ हो जाता है। मजूमदार के अनुसार परम्परानुसार जौनसारी परिवार में बालक का जन्म एक वरदान है जबकि बालिका जन्म एक श्राप। बहुत ही कम लड़कियाँ स्कूली शिक्षा के लिए जाती हैं। उन्हें घर का काम करना पड़ता है। बाल विवाह प्रथा होने से, बाल विवाह जौनसारियों की शिक्षा में एक बड़ा अवरोध है।¹⁵ यहाँ महिलायें परिश्रमी, ईमानदार व धर्म भीरू हैं। जौनसारी कृषि की तो वह रीढ़ है। फिर भी पारिवारिक निर्णय लेने में भी उनकी भागीदारी व स्थिति कमजोर है। लेकिन साथ ही इसके कुछ उज्ज्वल पक्ष हैं। विवाह सम्बन्ध होते समय वर पक्ष के लोगों को ही कन्या मांगने के लिए कन्या के घर जाना पड़ता है। विवाह के समय व विवाहोपरान्त कन्या पक्ष ही बड़ा माना जाता है। दहेज नहीं लिया जाता परम्परागत जौनसारी विवाह पद्धति में बारात भी कन्या पक्ष की ओर से जाती है। यहाँ पर्दा प्रथा बिल्कुल नहीं है। यहाँ की महिलाओं को विसंगत या नापसंद विवाह से छुटकारा लेना भी अपेक्षाकृत आसान है।¹⁶ जौनसारी समाज में स्त्रियों की स्थिति दोहरे मापदंड द्वारा निम्नवत निर्धारित होती है :

दयाटी— ‘दयाटी’ अर्थात् परिवार में रहने वाली बेटा, पोती, बहन आदि। सभी कार्यों में माता पिता का अधिकाधिक सहयोग करती है। घरेलू एवं कृषि कार्यों एवं छोटे भाई बहनों की देखरेख करती है। पिता के घर में उसे समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं। वह कहीं भी आने-जाने को स्वतंत्र होती है।

रयाटी :- ‘रयाटी’ का अर्थ पत्नी से है। पति के घर में उसे कठोर अनुशासन में रहना पड़ता है। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक वह कठोर परिश्रम करती है। कोई भी स्त्री गाँव के सामूहिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती पारिवारिक निर्णयों में भी उनकी कोई भूमिका नहीं रहती। समस्त निर्णय परिवार का मुखिया करता है।¹⁷

संक्षेप में कह सकते हैं कि इस समाज में महिलाओं की स्थिति वर्तमान में पुरुषों से हीन है क्योंकि वे अधिकांशतः अशिक्षित व असंगठित हैं।

स्वास्थ्य :- जौनसार बावर में क्षय रोग ग्रस्त लोगों की संख्या बहुत है। 75-80 प्रतिशत लोग जल प्रदूषण से होने वाली बीमारियों से ग्रस्त हैं। यहाँ की स्त्रियों का स्वास्थ्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक गिरा हुआ है। इसका कारण स्त्रियों पर काम का बहुत ज्यादा बोझ व उनके खान-पान, आराम व बीमारियों के प्रति अज्ञानता तथा पितृसत्तात्मक समाज की संरचना के कारण उपेक्षा है। भारत के लोग सच ही कहते हैं कि हमारे देश में और सब कुछ महंगा है, केवल आदमी सस्ता है और वह भी यदि जौनसारी जनजाति का हो तो वह कौड़ियों से भी सस्ता है।¹⁸

सांस्कृतिक धरोहर :

संस्कृति से तात्पर्य है कि किसी क्षेत्र विशेष के निवासियों की भाषा, वेष-भूषा, रीति-रिवाज, परम्परायें, ऐतिहासिक विरासत, धार्मिक विश्वास आदि से है। अतः इस आधार पर जौनसारी जनजाति की अपनी एक अलग संस्कृति है। यहाँ की मुख्य बोली जौनसारी है, हालांकि बावर के कुछ क्षेत्रों में बावरी भी बोली जाती है। दोनों ही बोलियाँ हैं, भाषा नहीं। क्योंकि भाषा की अपनी लिपि व साहित्य होना चाहिए और 'जौनसारी' व 'बावरी' बोलियों की न तो कोई लिपि है व न ही कोई साहित्य। यहाँ का सारा कार्य हिन्दी भाषा में ही होता है। यहाँ के निवासियों की वेश भूषा भी कुछ अलग प्रकार की है। पुरुष ऊपर से खुले या बन्द गले के कोट के साथ चूड़ीदार पायजामा पहनते हैं। सिर पर गर्मियों में सूती व सर्दियों में ऊनी टोपी पहनते हैं। यहाँ की स्त्रियों की वेश-भूषा बहुत ही आकर्षक है। स्त्रियाँ घाघरा (लहंगा)-कुर्ता पहनती हैं, सिर पर एक बड़ा रुमाल बाँधती हैं जिसे यहाँ के निवासी ढाँदू कहते हैं। वैसे यहाँ की स्त्रियाँ अब साड़ी व सलवार कमीज भी अपनाती जा रही हैं। घर की बाहरी दीवार पर ये लोग पशु-पक्षी, मानवाकृतियाँ, पक्षी का शिकार करते हुए शिकारी, हुक्का पीता हुआ आदमी, आदि के चित्र बड़े सुन्दर ढंग से बनाते हैं। जौनसार में प्रत्येक घर में आज भी लोककला जीवित है। यहाँ तक कि धान निकालने वाली ओखली पर भी लोकजीवन से सम्बन्धित चित्र निर्मित होते हैं। रंग-बिरंगे परिधान, जानवरों की खाल के झोले, टोपी आदि बनाना इनकी कलाप्रियता को प्रकट करता है।¹⁹

धार्मिक आस्था :-

जौनसारी समुदाय महाभारत कालीन पाण्डवों को आज भी अपना पूर्वज मानता है और उनके सम्मान में एकाधिक त्यौहारों को सम्पन्न करता है। आज भी जौनसार बावर में अनेक ऐसे मन्दिर हैं जो पाण्डवों के नाम से जुड़े हैं और इन्हें स्थानीय भाषा ने 'पांडों की चौरी' कहा जाता है।²⁰ जौनसारी समुदाय में पांचों पाण्डवों व कुंती की पूजा बड़ी श्रद्धा से की जाती है। ये लोग हिन्दू धर्म को भी मानते हैं किन्तु इनके स्थानीय देवताओं का महत्व इनके लिए अधिक है। इनके अपने गृहदेवता भी होते हैं। अपनी पूजा में ये लोग चिड़ियों और जानवरों की बलि चढ़ाते हैं बड़ी-बड़ी मृत चिड़ियाँ अपने घर के आगे टाँगना ये शुभ मानते हैं। माघ पर्व पर बलि चढ़ाने के लिए यह लोग साल भर, भेड़ों को पालकर हष्ट-पुष्ट बनाते हैं। अधिकांश मकानों की भांति मन्दिरों का निर्माण भी ये पत्थर एवं लकड़ी के द्वारा ही करते हैं। मन्दिर के द्वार पर ये नागों की आकृति बनाते हैं।²¹ मुख्यतः जौनसार-बावर में, इस सम्पूर्ण क्षेत्र के आराध्य देव 'महासू देवता' हैं।

एक प्राचीन "मसूरी गाइड" में महासू देवताओं का आगमन वैराटगढ़ के क्रूर व अत्याचारी राजा सामूशाह से जनता की मुक्ति के लिए बताया गया है।²²

त्यौहार व मेले :-

सम्पूर्ण देश की भाँति यहाँ दीवाली सर्वप्रमुख त्यौहार है किन्तु यहाँ दीवाली राष्ट्रीय दीवाली से एक माह बाद मनायी जाती है। क्योंकि कहते हैं यहाँ रामचन्द्र जी के अभिषेक का समाचार एक माह बाद पहुँचा। किन्तु एक प्रमुख कारण यह है कि कार्तिक के महीने इस क्षेत्र में बहुत कृषि कार्य होता है अतः यहाँ के लोग फुर्सत से एक माह बाद दीवाली मनाते हैं। प्रत्येक घर में रोशनी के स्थान पर लोग विमल की लकड़ी पुंज (होला) को जलाकर गाँव के निकट किसी खेत पर नाचते हैं।

दशहरा को यहाँ की भाषा में “पाँचों” कहा जाता है। उद्पाल्टा, लखवाड़ व लाखामंडल का पायता (विजयादशमी) प्रसिद्ध है। जागड़ा विशुद्ध रूप से “महासू” देवता का त्यौहार है जो भादों के महीने में मनाया जाता है। माघ त्यौहार 11 या 12 जनवरी से प्रारम्भ होता है। उस दिन लोग बकरा काटते हैं। बिस्सू का त्यौहार 13 से 16 अप्रैल तक मनाया जाता है। होली, रक्षाबंधन, जन्माष्टमी जैसे त्यौहार यहाँ नहीं मनाये जाते। यहाँ के प्रमुख मेले-बिस्सू का मेला, केसरी का मेला, तथा पाँचों के मेले प्रसिद्ध हैं।²³ यहाँ सांस्कृतिक रूप से एक प्रमुख मेला है-गौण मेला। इसमें ग्रामीण लोग गाँव के पास नदी तक जाते हैं और मछलियों का शिकार करते हैं। यह गर्मियों के मौसम में आयोजित होने वाला मेला है।²⁴

जौनसारियों के प्रमुख नृत्यगीत, बराड़ी, गुण्डिया, रास बाड़े, रासो, धुमसू, जंगबाजी, पौवाई, पण्डावाला, सेला आदि हैं। इनके प्रमुख वाद्यों में ढोल, रोटी, जिह्या शंख, डण्डी, सिडर्व बीन, बांसुरी, हुड़की, ढपली, मृदंग, रणसिंह, भैरी तुरी आदि हैं।²⁵ यहाँ का ‘पांडौ’ नामक नृत्य तो एक ऐसा उदाहरण है जो पांडवों से इस भूमि की सन्निकटता ही नहीं, आत्मीयता भी दिखाता है।²⁶

अंधविश्वास व मान्यताएं :-

जौनसार बावर समाज की एक उल्लेखनीय विशेषता यहाँ के निवासियों का भाग्य, जादू-टोना, गण्डे ताबीज, जन्मपत्री, भूतप्रेत, जंतर-मंतर आदि पर बहुत अधिक विश्वास करना है। उनके अनुसार सभी बीमारियों और कष्टों का कारण भूत-प्रेत, राक्षस,

धार्मिक नियम का उल्लंघन, देवी-देवता का प्रकोप, नजर लगना आदि होते हैं तथा ये मनुष्य के पापों व अपराधों का प्रतिफल है। देवी देवताओं एवं भूत-प्रेतों का प्रकोप ही मनुष्य को बीमार व कमजोर कर देता है। अतः इसका इलाज प्रार्थना, झाड़-फूँक, जादू टोने, ताबीज पहनाकर तथा बलि के द्वारा ही सम्भव होता है। भूत-प्रेत से बचाव के लिए ये लोग रात्रि से पहले ही घर वापस आने का प्रयत्न करते हैं और रात्रि में जंगल की ओर से गुजरना मना करते हैं। चिकित्सा सुविधा प्राप्त होने पर भी उसका लाभ उठाने की बजाय वे अपने पारम्परिक झाड़ फूँक, जादू टोना आदि के

द्वारा ही उपचार करना अधिक बेहतर समझते हैं।²⁷

ऐतिहासिक स्थल :-

जौनसार बावर एक जनजातीय क्षेत्र अवश्य है, किन्तु इसके कुछ प्रमुख स्थल ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

1. **कालसी** :- देहरादून जिले में जौनसारी-बावर परगने का सबसे प्रमुख गाँव कालसी है। यह गाँव 30°-32'-20" अक्षांश उत्तर और 77°-53'-25" देशान्तर पूर्व में समुद्र सतह से 1,820 फीट की ऊँचाई पर 39 एकड़ में बसा है। कालसी, यमुना की सम्भरक नदी अम्लावा के किनारे पर है।²⁸ मौर्यकाल में गढ़देश पर मौर्य शासकों के आधिपत्य की पुष्टि कालसी शिलालेख से होती है। जिस पर 14 उपदेश (आदेश) उत्कीर्ण किए गए हैं।²⁹ साथ में हाथी का चित्र भी बना हुआ है। जिसके नीचे 'गजातमे' नाम भी अंकित है। आज का कालसी ही प्राचीन सुघन नगर है।

कालसी के निकट पुरातात्विक सर्वेक्षण और उत्खनन में वैदिक परम्परा के अश्वमेध यज्ञ की वेदिकाएं गईं।³⁰ आज भी जाड़ों में कालसी ही चकराता तहसील का मुख्यालय है।

2. **लाखामण्डल** :- प्राचीन काल का एक अति समृद्ध, महत्वपूर्ण व जीवंत व्यापारिक केन्द्र लाखा मंडल आज 40 घरों का एक छोटा सा गाँव रह गया है। इसके लाखामंडल नाम पड़ने के मुख्य कारण निम्नवत् हैं :-

(1) यहाँ मूर्ति निर्माण इतना अधिक होता था कि उनकी संख्या संभवतः लाख तक पहुँच गयी है। इसी कारण यहाँ आज भी जहाँ खुदाई होती है वहाँ मूर्तियाँ मिलती है।

(2) कौटिल्य प्रभृति विद्वान् सीमांत राज्यों के जनपद मुख्यालय को 'मंडल' कहते थे जैसे केदारमंडल आदि इसलिए इसका नाम भी लाखामंडल पड़ा।

(3) राजकुमारी ईश्वरा ने अपने स्वर्गीय पति चंद्रगुप्त की आत्मा की शान्ति के लिए यहाँ 'लाखेश्वर देव' के मन्दिर का निर्माण कराया था, इसलिए कालांतर में इसका नाम लाखामंडल पड़ा।

लाखामंडल 14वीं शताब्दी तक केदारखण्ड का सबसे समृद्ध राज्य था।³¹

प्राचीन काल में लाखामंडल में शैव तथा वैष्णव मत के अनेक भव्य मन्दिर विद्यमान होना यहाँ के वर्तमान शिवमन्दिर तथा उसके प्रांगण में स्थित अन्य प्राचीन मन्दिरों के वंशावशेषों के प्रस्तर चिन्हों से सिद्ध होता है।³²

3. **वैराटगढ़** :- वैराटगढ़ के विषय में जौनसार बावर के निवासियों का विश्वास है कि यह महाभारत के राजा विराट का ही गढ़ है। स्थानीय जौनसारी जनता के सहयोग से 4 दिसम्बर सन् 1815 को अंग्रेज कैप्टन फास्टर द्वारा गोरखों से यह किला खाली कराया। इससे पूर्व यह किला

कभी स्थानीय राजाओं के अधीन रहा तो कभी गढ़वाल के राजा के अधीन, कभी सिरमौर के राजा के अधीन व गोरखा आक्रमण (सन् 1803 से 1815) के समय गोरखों के अधीन रहा।

4. **हनोल :-** हनोल धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह जौनसार बावर का सबसे बड़ा तीर्थ स्थान है। मन्दिर के अंदर रखी गयी मूर्तियों के अतिरिक्त चांदी की एक चादर पर चारों महासू व माता देवलाड़ी के चित्र बनाए गए हैं। बाहर 'छरिया' व 'अगरिया' देवताओं की मूर्तियाँ भी हैं। यह स्थान चकराता से लगभग 110 कि०मी० की दूरी पर टैंस नदी के किनारे बड़े सुरम्य स्थान पर स्थित है। इसकी वास्तुकला की दृष्टि से यह एक शैव मन्दिर लगता है। अंग्रेज लेखक जी०आर०सी० विलियम्स इसे शंकराचार्य द्वारा निर्मित मन्दिर मानते हैं।³³

शैक्षिक स्थिति : जौनसारी जनजाति का विकास तभी सम्भव है जब यहाँ के नागरिक शिक्षित होंगे।

जी०आर०सी० विलियम्स 'मेमोआयर ऑफ देहरादून' में लिखते हैं, सन् 1871 में एक मिडिल स्कूल देहरादून में था और एक कालसी में। शिक्षा के प्रति इस क्षेत्र में इतनी उदासीनता रही कि आजादी से पूर्व इस सम्पूर्ण क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति इण्टर पास तक नहीं था।³⁴ वर्तमान में स्थिति ऐसी नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यह क्षेत्र व सरकार जागरूक हो गयी है। वर्तमान में चकराता व कालसी में कुल शिक्षण संस्थाओं के आंकड़े तालिका संख्या 3 में प्रस्तुत हैं।

तालिका संख्या-3 : चकराता एवं कालसी में शिक्षण संस्थाओं की (वर्ष 2000-2001) स्थिति

विकासखंड	जूनियर बेसिक स्कूल	सीनियर बेसिक स्कूल	हायर सेकेंड्री महाविद्यालय	स्नातकोत्तर महाविद्यालय				
कालसी	151	39	2	11	-	-	-	-
चकराता	152	36	-	11	-	-	-	-

उपरोक्त तालिका संख्या-3 द्वारा स्पष्ट है कि चकराता विकासखंड में 152 तथा कालसी विकासखंड में 151 जूनियर बेसिक स्कूल हैं। जूनियर बेसिक स्कूल तो पर्याप्त संख्या में हैं किन्तु सीनियर बेसिक स्कूल चकराता विकासखंड में 36 एवं कालसी विकासखंड में 39 हैं। जिसमें 2 विद्यालय बालिकाओं के लिए भी हैं। विद्यालयों की संख्या में निरन्तर कमी आ रही है। हायर सेकेण्ड्री स्कूल भी बहुत कम हैं। चकराता व कालसी दोनों ही विकासखंडों में 11-11 हायर सेकेण्ड्री विद्यालय हैं। किन्तु बालिकाओं के लिए अलग से विद्यालय का अभाव है।

चकराता एवं कालसी विकासखंडों में शिक्षा का स्तर

सरकार के द्वारा चकराता व कालसी विकासखंड में बहुत से विद्यालय खोले गए हैं। अतः

यह जानना आवश्यक हो जाता है कि क्षेत्र में साक्षरता का क्या स्तर है।

तालिका संख्या- 4 : चकराता व कालसी विकासखंड में शिक्षा की स्थिति

विकासखंड	कुल जनसंख्या		कुल शिक्षित		पुरुष		महिला	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
कालसी	55327	100	25871	46.1	16499	29.8	9372	16.9
चकराता	63340	100	25727	40.6	16884	26.6	8843	14

आर्थिक स्थिति :- पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण उत्तरांचल देश के अन्य राज्यों की तुलना में बहुत पिछड़ा है और यहाँ निवास करने वाली जनजातियों की आर्थिक स्थिति भी खराब है। इस सम्बन्ध में जौनसारी भी काफी कमजोर है। यहाँ अधिकांशतः व्यक्तियों के पास सम्पत्ति के नाम पर कृषि भूमि व पशु तो हैं। किन्तु वे बहुत लाभकारी नहीं हैं। अत्यधिक पहाड़ियों से युक्त क्षेत्र होने के कारण कृषि हेतु समतल जमीन का अभाव है। तराई क्षेत्र व देहरादून जननद से लगे होने के कारण कुछ क्षेत्रों में तो कृषि काफी उपजाऊ भी है। जिनके पास अपनी भूमि नहीं है या बहुत छोटी है, वे बड़े कृषकों के खेतों में मजदूरी करते हैं।

लम्बी शीत ऋतु होने के कारण पशुओं के लिए पर्याप्त चारा तक उपलब्ध नहीं हो पाता। चकराता कैण्टोनमेंट क्षेत्र व अर्धविकसित पर्यटक स्थल होने के कारण यहाँ थोड़ा बहुत होटल व्यवसाय चलता है। यहाँ के बहुत से लोग अभी तक कच्चे मकानों में ही रहते हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग अभी आर्थिक रूप से काफी कमजोर हैं।

निष्कर्ष : जौनसारी जनजाति की आर्थिक, शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्थिति आदि का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पहाड़ी क्षेत्र में निवास करने वाली जौनसारी जनजाति की अपनी एक अलग विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है। वर्तमान की आधुनिकता का वहाँ कुछ-कुछ प्रवेश हो गया है। वहाँ के लोग सीधे-सादे व आर्थिक रूप से कमजोर हैं। आवश्यकता इस बात की है कि क्षेत्र पर थोड़ा सा ध्यान देकर क्षेत्र व यहाँ के निवासियों की स्थिति को सुधारा जा सकता है। ऐतिहासिक रूप से समृद्ध इस क्षेत्र की नहीं, वरन् देश की ऐतिहासिक धरोहर को संरक्षण प्रदान, इसे आने वाली पीढ़ियों तक सम्भाला जा सकता है।

सन्दर्भ सूचि

1. नौटियाल शिवानन्द; उत्तराखण्ड की जनजातियाँ; पृष्ठ 59, सुलभ प्रकाशन लखनऊ 1990
2. बिष्ट, बी०एस०; उत्तरांचल 'ग्रामीण समुदायों पिछड़ी जाति एवं जनजातिय परिदृश्य', पृष्ठ

3. वाल्दिया के0 एस0; 'उत्तराखण्ड आज उत्तराखण्ड की जनजातियाँ और अन्तर्जातीय समीकरण', पृष्ठ-161, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा-1996
4. मान, कमलेश; 'ट्राइबल वूमन', 1996
5. थपलियाल, प्रकाश, 'हिमालयन गजेटियर', पृष्ठ - 320-323 उत्तराखण्ड प्रकाशन हिमालय संचेतना संस्थान, आदि बट्टी चमोली, 1998
6. जोशी, कृपाराम, 'जौनसार बावर का संक्षिप्त परिचय', पृष्ठ -56
7. सकलानी, शशिकला; अप्रकाशित शोध ग्रन्थ - जनजातियों में राजनीतिक विकास (जाड़ तथा जौनसारी जनजाति का तुलनात्मक अध्ययन) पृष्ठ - 60, 1999
8. 'सयाना' - सयाना से तात्पर्य है एक बहुत जानकार व्यक्ति। जौनसार में सयाना पूरे गाँव की पंचायत, जिसे जौनसारी भाषा में 'खुमरी' कहा जाता है, में ज्ञान बाँटता है।
9. जोशी, कृपाराम, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 3-6
10. जोशी, कृपाराम, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 51-52
11. खन्ना, डी0 पी0 एस0; ग्लिम्पसेस ऑफ इण्डियन ट्राइबल लाइफ; रामदास सोनकर: 'आदिम जातियाँ कल्याण की दिशा में; पृष्ठ - 148, सिरिता बुका हाउस, दिल्ली 1992
12. थपियाल, प्रकाश; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 334
13. खन्ना, डी0 पी0 एस0; पूर्वोक्त
14. मान कमलेश; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 59
15. मान, कमलेश; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 61
16. जोशी, कृपाराम; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 49-50
17. नौटियाल, डा0 शिवानंद; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 24
18. जोशी, कृपाराम, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 35-40
19. नौटियाल, शिवानंद, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 26
20. बिष्ट, बी0 एस0; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 93
21. नौटियाल शिवानंद; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 25-26
22. जोशी, कृपाराम; पूर्वोक्त पृष्ठ 12-13
23. जोशी, कृपाराम; पूर्वोक्त पृष्ठ 10-11

24. नौटियाल नवीन; 'दुरात्माओं को खदेड़ने के लिए मछली मार मेला', पर्वतीय संस्कृति - 1995 पर्वतीय संस्कृति परिषद् देहरादून
25. नौटियाल, शिवानंद; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 26
26. नौटियाल, गोविन्द प्रसाद; 'तपोभूमि बदरिकाश्रम', पृष्ठ 201
27. नौटियाल शिवानंद; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 25
28. थपलियाल प्रकाश; पूर्वोक्त, पृष्ठ - 370, 1998
29. नेगी, डा० शन्तन सिंह; 'मध्य हिमालय का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ - 31, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 1988
30. इण्डियन आर्कीलॉजी - ए रिव्यू, पृष्ठ - 35 तथा 53, 1955
31. उपरोक्त, पृष्ठ - 16 -17
32. पाठक शेखर, पहाड़-2' हिमालयी समाज, संस्कृति, इतिहास तथा पर्यावरण पर केन्द्रित पृष्ठ - 168, 1986
33. जोशी, कृपाराम, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 17-18
34. जोशी, कृपाराम, पूर्वोक्त, पृष्ठ - 19-20

लोकभाषा संस्कृत

डॉ० सञ्जय कुमार

संस्कृत विभाग,

कला संकाय, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

लोकयतेऽसौ लोकः' (लुक+घञ्) अर्थात् दुनियाँ, संसार, विश्व का एक प्रभाग आदि अर्थों में लिया जाता है। लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इसका प्रयोग सामान्य जनता के रूप में, ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आया है। यहां लोक शब्द के लिये जन शब्द का प्रयोग हुआ है।

ये इसमें रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्नेदं भारतजनम्॥^१

उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर लोक शब्द व्यवहृत हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में कहा गया है कि यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह प्रभूत या व्याप्त है। कौन प्रयत्न करके इसे सम्पूर्णरूप से जान सकता है—

वहुं व्याहितो वा अयं बहुतो लोकः।

क एतद् अस्य पुनरहितो अयात्॥^२

महाभारत में भी 'लोक' का तात्पर्य सामान्य जनता ही बतलाया गया है। उसमें लिखा गया है कि "महाभारत अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे होकर व्यथित लोक (साधारण जनता) की आंखों को ज्ञानरूपी अंजन-शलाका से खोल देता है"—

अज्ञानतिमिराधस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।

ज्ञानांजनशलाकामिनेत्रोन्मीलकारकम्॥^३

श्रीमद्भगवद्गीता में लोक शब्द का भी यही अर्थ अभिप्रेत है—

"लोकऽस्मिन्दिद्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ"^४

उत्तरराचमरितम् में भवभूति ने प्रजानुरञ्जन के लिये लोकाराधन की बात कहकर लोक शब्द को जनसाधारण के प्रयोग पर मुहर लगा दी है। वे कहते हैं— "प्रजा के अनुरञ्जन के लिए (लोकस्य आराधनाय) प्रेम, दया, सुख अथवा जानकी को भी छोड़ते मुझे (राम को) कष्ट नहीं होगा।"

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदिवा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥^५

अतः लोक शब्द को दुनियाँ, संसार, जगत्, विश्व आदि अर्थों के रूप में लिया जाता है। यहाँ जो कुछ भी अपने मूलस्वरूप में सद्यः दिखलाई पड़ रहा है वह लोक है। संसार का अपरिमार्जित स्वरूप ही लोक कहा जाता है, जिसे अंग्रेजी में फोक (Folk) कहते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक के सम्बन्ध में लिखा है कि “लोक शब्द का अर्थ ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी आवश्यक होता है उनको उत्पन्न करते हैं”।⁷ डॉ० कृष्णदेव राय का भी अभिमत कुछ ऐसा ही है वे कहते हैं कि “जो लोग संस्कृत या परिष्कृत वर्ग से प्रभावित न होकर अपनी पुरातन स्थितियों में ही रहते हैं वे लोक होते हैं।”⁸

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य जन-मानस को लोक कहा जाता है और भाषा वह है जिससे मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करने के लिये मौखिक साधन अपनाता है। भाषा ही एक ऐसी जीवन-ज्योति है, जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्रकार भाषा का तात्पर्य बात, बोली जवान आदि मानी जाती है, जो मनुष्य को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती हैं। ऋग्वेद के अनुसार वाक् तत्त्व या भाषा ही वह दिव्या ज्योति हैं-

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्॥⁹

अतः भाषा का तात्पर्य बोली है। मनुष्य अपने व्यवहार में सामान्य रूप से जिन शब्दों का प्रयोग करता है वह बोली कही जाती है, इस प्रकार लोक भाषा का अर्थ सामान्य जनसाधारण लोगों की बोली या भाषा हुई। यास्क¹⁰ और पाणिनि ने भी लोक व्यवहार में आने वाली बोली को भाषा कहा है।

संस्कृत भाषा या देववाणी इस संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में अति प्राचीन भाषा है। इस विषय में विद्वानों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है, सभी लोग इसे प्राचीनतम् भाषा हृदय से स्वीकार करते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संसार की भाषाओं का दो प्रकार विभाजन किया जाता है- एक आर्य भाषा और दूसरी सामी या समेकित भाषा। आर्य भाषा की दो विशिष्ट शाखाएं पश्चिमी एवं पूर्वी भाषा है। पश्चिमी भाषा के अन्तर्गत यूरोप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएं ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि सम्मिलित हैं। इन सभी भाषाओं का मूल आर्य भाषा ही है। पूर्वी शाखा की भी दो विशिष्ट शाखाएं भारतीय एवं ईरानी भाषा के रूप में आती हैं। भारतीय भाषाओं में संस्कृत ही सर्वस्व है तथा आर्य भाषाओं में भी यही सबसे प्राचीनतम है। आर्यभाषा के

मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन यहां उपलब्ध है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। आजकल की सभी भारतीय भाषाएं संस्कृत से ही निकली हैं। अतः किसी समय में संस्कृत अवश्य लोकभाषा रही होगी।

वैदिक वाङ्मय की भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों के स्वरूप में एकरूपता तथा घनिष्ठता है। संस्कृत को वेद की भाषा का मूल स्रोत कहा जा सकता है। उसी को देवी वाग् अर्थात् देवजाति की भाषा भी कहा जाता है। देवी संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा थी। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी आदि आख्यानों से पता चलता है कि संस्कृत लोक भाषा थी। डॉ० भोलाशंकर व्यास कहते हैं कि "वैदिक साहित्य जन-भाषा का साहित्य है, देवी साहित्य है, ग्रामसंस्कृति का साहित्य"।¹¹ आचार्य दण्डी ने वेदभाषा के इतिहास को लेकर संस्कृत को देवी वाग् कहा है-

संस्कृत नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

तद् भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः॥¹²

महर्षि यास्क ने अपने निवर्चन शास्त्र निरुक्त में कठिन शब्दों की वैदिक व्याख्या लिखी है, जो लोक जनमानस के वैदिक प्रेरणा का स्रोत है। वैदिक संस्कृत से भिन्न एक जनसाधारण की भी भाषा थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर भाषा कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से बतलाई है जो लोक व्यवहार में प्रचलित थे।¹³

निरुक्तकार ने अपने समय में भिन्न भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग किये हैं उन सबका उल्लेख निरुक्त में मिलता है। जैसे 'शवति' क्रिया का प्रयोग कम्बोज में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था परन्तु इसका संज्ञापद 'शव' का प्रयोग आर्य लोग भिन्न अर्थ में करने लगे थे। पूर्वी प्रान्तों के लोग 'दाति' क्रिया पद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में प्रयोग करते थे परन्तु उत्तर के लोगों में इसी शब्द से बने हुए 'दांत' संज्ञा शब्द का प्रयोग 'हंसिया' के अर्थ में किया जाता था। अतः यास्क के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। यह स्पष्ट है क्योंकि कहा भी जाता है कि "कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी"।

आचार्य पाणिनि के समय में भी संस्कृत बोलचाल की भाषा थी यह तथ्य उनके अनेक सूत्रों से सिद्ध हो जाता है, जैसे दूर से पुकारने के लिये अन्तिम स्वर का प्लुत हो जाता है- "दूराद्धूते च"¹⁴ और आशीर्वचन में नाम या गोत्र के अन्तिम स्वर को प्लुत हो जाता है।¹⁵ जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य! देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये' तो गुरु जी यह कहकर आशीर्वाद देंगे 'आयुष्मान् एधि देवदत्त' लोकप्रचलित भाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग करके वैदिक भाषा और लोक भाषा को स्पष्ट किया है।¹⁶ पूर्वी और उत्तरी क्षेत्रों में प्रयुक्त

रूपों के लिये 'प्राच्याम् उदीच्याम्' आदि शब्दों का प्रयोग किया है।¹⁷

संस्कृत का यह व्यवहार तभी संभव है जब वह सामान्य जनों के द्वारा बोली जाती हो। पाणिनि के समय में अनेक मुहावरे आदि प्रचलित थे, जो संस्कृत को लोकभाषा मानने के लिये बाध्य करते हैं। जैसे दण्डा-दण्डी (लाठा-लाठी), केशाकेशी (नोचा-नोची) बालों को खींचकर होने वाला झगड़ा जिसे आज झोटउल कहा जाता है), हस्ताहस्ति (हाथापायी), उदरपूरं भङ्कते (पेट भर गया) इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनि द्वारा व्याख्यात भाषा थी। पाणिनि ने जब लोकभाषा को संस्कृत के नियमों में बांधकर अनुशासित कर दिया तभी से यह साहित्यिक भाषा बनने लगी क्योंकि लोक को व्याकरण की जानकारी कहां कि वे व्याकरण के अनुसार बोले और प्रयोग करें। सबसे ध्यान देने की बात यह है कि व्याकरण लोक व्यवहार को देखकर ही बना है जो लोक में होता था वही व्याकरण में निबद्ध कर दिया गया।¹⁸

आचार्य पाणिनि के अनन्तर कात्यायन हुए उनके समय में भी संस्कृत बोली जाती थी, लेकिन अन्तर इतना आ गया था कि जो पाणिनि से हिमानी तथा अरण्यानी का प्रयोग लिंग में करते थे। कात्यायन उसे विशिष्ट अर्थ के प्रयोग में करने लगे। 19 अरण्यानी का अर्थ विशाल जंगल हुआ और यववानी का प्रयोग यवनों की लिपि के रूप में प्रारम्भ हो गया।²⁰ पाणिनि के समय में यववानी का प्रयोग यवनों की स्त्रियों के लिये किया जाता था। अतः अष्टाध्यायी से भाषा के जिस स्वरूप का विकास हुआ उससे लोक प्रचलित शब्दों का अर्थ परिवर्तित होने लगा और मूल संस्कृत (परिष्कृत) संस्कृत से दूर होने लगी।

आचार्य पतञ्जलि पर भी लोकभाषा संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। महाभाष्य में आये 'लोकतः'²¹ का अभिप्राय लोकव्यवहार के आधार पर शब्दों के अर्थ का बोध किया जाता है। 'सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे'²² का अर्थ व्याकरण प्रचलित शब्द और अर्थ को आधार मानकर चलता है। आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट निर्देश किया है कि बोलचाल की भाषा में प्रान्तीय भेद होता है- "प्रियतद्धिता दक्षिणयाः"²³ अर्थात् दक्षिणाह भारतीय लोग, 'लोकेवेदे च' के स्थान पर तद्धित प्रत्ययान्त का प्रयोग कर लौकिक वैदिकेषु को अच्छा मानते हैं।²⁴ अतः क्षेत्र का भी संस्कृत भाषा पर प्रभाव पड़ा है और लोक भाषा क्षेत्रीय भाषा ही होती है। भाषा संस्कृत का और भी उदाहरण है-चलने के अर्थ में सुराष्ट्र क्षेत्र के लोग 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं, पूरब के लोग रहति और आर्य लोग गच्छति का प्रयोग करते हैं।

एतिस्मन् आर्यवर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भी धान्या अलोलूपा अगृह्यमानकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्र यवन्त शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्।²⁵

पतञ्जलि ने एक ब्रह्म ही रोचक संवाद के द्वारा सिद्ध किया है कि एक वैयाकरण की

अपेक्षा एक साधारण सारथी को प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति और प्रयोग का अधिक व्यावहारिक ज्ञान है। तथ्य है कि- “वैयाकरण ने पूछा इस रथ का प्रणेता कौन है? सूत ने कहा- आयुष्मान् मैं इस रथ का प्राजिता अर्थात् चलाने वाला हूँ। वैयाकरण ने कहा प्राजिता शब्द तो अपशब्द है। सूत पुनः कहता है मान्यवर केवल प्राप्तिज्ञ है, इष्टिज्ञ नहीं है। वैयाकरण अहो दुष्ट सूत (दुरूत) हमें कष्ट पहुंचाता है। सूत आप का दुरूत प्रयोग ठीक नहीं है। सूत शब्द स् धातु से बना है, वेज् धातु से नहीं। अतः वैयाकरण जी यदि आप निन्दा चाहते हैं तो दुःसुत कहिए-

“एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह-कोऽस्य रथस्य सु प्रवेता इति। सूत आह अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति सूत आह प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न तु इष्टिज्ञः। इष्ययत् एतद् रूपमिति।”²⁶

इस प्रकार यहाँ बतलाया गया है कि प्राप्तिज्ञ से इष्टिज्ञ श्रेष्ठ होता है और इष्ट अर्थ का ज्ञान लोक व्यवहार बतलाया गया है कि प्राप्तिज्ञ से इष्टिज्ञ श्रेष्ठ होता है और इष्ट अर्थ का ज्ञान लोक व्यवहार से ही आता है। वैयाकरण केवल सूत्रों को जानता है वास्तव में उसे प्रयुक्त शब्दों के व्यवहार का ज्ञान नहीं है। अतः बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि “जिस भाषा को रथ हांकने वाला समझें और बोले उसे बोल-चाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा।”²⁷

पाश्चात्य विद्वान् कीथ और ग्रियर्सन का मानना है कि रामायण और महाभारत काल में भी संस्कृत लोकभाषा थी। सभी लोग संस्कृत के द्वारा ही अपना व्यवहार करते थे।²⁸ रामायण में जब हनुमान् सीता के समक्ष अशोक वाटिका में पहुँचते हैं तो बहुत विचार करने के बाद संस्कृत भाषा में ही उनसे वार्तालाप करने का निश्चय करते हैं।²⁹ हनुमान् एक बन्दर जाति के थे वे जंगल में रहते थे। इस प्रकार जंगली लोग भी संस्कृत बोल लेते थे। अतः संस्कृत को लोक भाषा के पद से कैसे हटाया जा सकता है।?

“रामायण में ही उल्लेख है कि इल्वास राक्षस ने ब्राह्मण का रूप धारण कर संस्कृत में ही ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया था”³⁰ इस कथन से स्पष्ट हो जाता है राक्षस भी संस्कृत बोल लेते थे। मैकडानल का उद्घोष है कि “इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती समस्त आर्यावर्त में संस्कृत बोल-चाल की भाषा रही हो।”³¹

संस्कृत साहित्य का लोक जीवन के लिये विख्यात ग्रन्थ पंचतन्त्र और हितोपदेश की भाषा लोक भाषा की तरह सुबोध एवं सरल है। उस समय शासक वर्ग के बालकों को शिक्षित करने का माध्यम प्रादेशिक भाषा न होकर संस्कृत भाषा ही थी। अश्वघोष आदि कवियों ने महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं प्रचार के लिये प्राकृत आदि भाषाओं को छोड़कर संस्कृत को ही अपने ग्रन्थों की भाषा बनाया।

इन कवियों का काव्य समाज का उपदेशक है अतः समाज को उपदेश उसी भाषा में दिया जाता है जिस भाषा का ज्ञान समाज रखता हो। डॉ. सूर्यकान्त भी कहते हैं कि “इससे स्पष्ट है कि अश्वघोष के काल में संस्कृत भाषा का प्रचलन कुछ शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित न रहकर जन साधारण तक फैला हुआ था।³²

आचार्य वात्स्यायन भी कहते हैं कि सहृदयजनों को संस्कृत तथा प्रादेशिक, इन दोनों भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए।³³ द्वितीय शताब्दी से लेकर आगे के सभी शिलालेखों की शिलालेखीय भाषा संस्कृत है। षष्ठशताब्दी के जैन अभिलेखों को छोड़कर शेष सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में ही लिखे गये मिलते हैं। जिसका निर्देश डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने स्पष्ट रूप से किया है-

“द्वितीय शती ई. के बाद अधिकांश शिलालेख संस्कृत में ही लिखे गये हैं। छठी शती ई. से लेकर केवल जैन शिलालेखों को छोड़कर 18वीं शती ई. तक सारे शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल के प्रायः सभी ताम्रलेख, दानपत्र, राजकीय शासन पत्र और राज प्रशस्तियाँ आदि संस्कृत में ही मिलते हैं।³⁴

शिलालेख आदि सामान्यतः उसी भाषा में लिखा जाता है जिस भाषा को अधिक लोग जानते-समझते हैं। अतः शिलालेखों आदि में संस्कृत का प्रयोग लोक भाषा संस्कृत की ओर संकेत करता है।

डॉ. सूर्यकान्त चीनी यात्री युवनच्चांग के कथन को व्यस्त करते हुए कहते हैं कि “चीनी यात्री युवनच्चांग के कथन से ज्ञात होता है कि सप्तमशती ई. में राजकीय वाद-विवाद किसी प्रादेशिक भाषा में न होकर संस्कृत में होते थे। बौद्ध लोग भी मौखिक सैद्धान्तिक विवादों में संस्कृत का प्रयोग करते थे और जैन लोग भी ऐसा ही किया करते थे। यद्यपि उन्होंने प्राकृत को सर्वथा छोड़ दिया था।³⁵ आज भी धूप के लिये घाम शब्द का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में घाम संस्कृत का शब्द है। जिसका उल्लेख उत्तररामचरित में आया है।³⁶

आज भी गांवों में जनसाधारण लोग कहते हैं कि आज बहुत तेज घाम है, बर्दास्त नहीं होता। इसका प्रयोग परम्परा रूप से चला आ रहा है। अतः प्राचीन समय में संस्कृत भाषा का प्रयोग लोक भाषा के रूप में किया जाता था। यह जन साधारण की भाषा एवं जन-जन की भाषा थी। इसका प्रयोग व्यावहारिक था। यह किसी व्याकरणनियम में बद्ध नहीं थी।

सन्दर्भ

1. वामनशिवराम आप्टे - संस्कृत हिन्दीकोष, पृष्ठ 883।
2. ऋग्वेद - 3-53-12।
3. जैमिनीय, उपनिषद् ब्राह्मण, 3-27।
4. महाभारत, आदिपर्व 1-84।
5. श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक 3-3।
6. भवभूति- उत्तररामचरितम् श्लोक 1-12।
7. हजारि प्रसाद द्विवेदी, जनपद अंक -पृष्ठ 651।
8. प्रो० डॉ० बापूराव देसाई, लोक साहित्य- पृष्ठ 18।
9. ऋग्वेद-10/125/5।
10. यास्क-निरुक्त 1-4 भाषायामन्वध्यायन्यन्य। पाणिनि अष्टाध्यायी 3-2-108
11. डॉ. भोलाशंकर व्यास- संस्कृत कविदर्शन-पृष्ठ 5
12. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद कारिका 33।
13. निरुक्त 2-2- भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नेगमा कृतो भाष्यन्ते।
14. पाणिनि-अष्टाध्यायी - 8-2-81।
15. वहीं-8-2-83- प्रत्याभिवादिऽशुद्धे।
16. वहीं - 2-4-39 और 3-2-108 बहुलं छन्दसि और भाषायां सदवसश्रुवः।
17. वहीं -4-1-17 और 7-3-16 -प्राचां षक और उदीचामात्।
18. लोकतोअर्थं प्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः महाभाष्य प्रथम अह्निक।
19. हियारण्ययोर्महत्वे 4-1-114 वार्तिक।
20. यवनाल्लिप्याम् 4-1-114।
21. महाभाष्य प्रथम अह्निक।
22. वहीं
23. पतञ्जलि-महाभाष्य-प्रथम अह्निक।
24. वहीं -यथालोके वेदे प्रयोक्तव्ये यथा लौकिक वैदिकेस्विति।
25. पतञ्जलि-महाभाष्य-सूत्र 6-3-109।
26. वही, सूत्र 2-4-56।
27. बलदेव उपाध्याय-संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृष्ठ 17।
28. Keith and Gricson, JRAS, 1906
29. वाल्मीकीय रामायण-सुन्दरकाण्ड 30-17-वाचं चोदाहरिष्यामिमानुषीमिहं संस्कृताम्।
30. कपिलदेव द्विवेदी-संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास -(हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ 7।

31. मैकडानल- संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इति (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ 19।
32. डॉ. सूर्यकान्त-संस्कृत वाङ्मय का इतिहास-20।
33. कामसूत्र- वात्स्यायन, श्लोक-20।
34. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक पृष्ठ इति. 78।
35. डॉ. सूर्यकान्त-संस्कृत वाङ्मय का इतिहास पृष्ठ-2।
36. उत्तररामचरित 3-30- 'इदं विश्वं विधिवदभियुक्तेन मनसा, प्रियाशाको जीवकुसुममिव धर्मोऽग्लपयति'।

वेदों का अर्थशास्त्रीय अवलोकन

डॉ० जगत् नारायण ठाकुर

प्रवक्ता अर्थशास्त्र

एस.के.जे. लॉ कालेज, मुजफ्फरपुर (बिहार)

परिचय :

संसार के सभी मनुष्य सुख शान्ति चाहते हैं। वर्तमान सांसारिक अर्थव्यवस्था का मूल है कि उनको प्राप्त करने के लिए अपनी परिस्थिति के अनुसार कभी भौतिक और कभी आध्यात्मिक साधनों के द्वारा हम प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु उनकी सुख-शान्ति का आदर्श वही होता है, जिससे वे प्रभावित होते हैं और उसी प्रकार के प्रयत्नों का अनुकरण करते हैं जिस प्रकार के प्रयत्न अपने से प्रभावशाली लोगों को देखते हैं।

वर्तमान अर्थशास्त्र की चर्चा में एक ऐसे भौतिकवादी विकास की अवधारणा का प्रारूप तैयार किया जाता है, जहाँ पर शिक्षा, विज्ञान, उद्योग अपने चर्मोत्कर्ष पर हों। व्यक्ति एवं समाज की शत्रु-प्रतिशत्रु सुरक्षा की गारन्टी हो, पर्यावरण सुरक्षित हो, नदियाँ जल से लबालब हों, अन्नागार अन्न से परिपूर्ण हों सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक, भौतिक अवस्था से सभी अपने चर्मोत्कर्ष पर हों और हर व्यक्ति सुख एवं समृद्धि के सुख से पूर्ण हो ऐसी, अर्थव्यवस्था का विकास हो जहाँ पर बेकारी, बेरोजगारी, महामारी, अकाल, भूखमरी एवं अन्य समस्या न हो। कुछ ऐसे ही चरम सुख देनेवाली हमारी वैदिक व्यवस्था थी जिसमें सभी सुखी थे।

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की अर्थव्यवस्था सुख से भी आगे संतोष एवं आनन्द को महत्त्व देती है। सुख-संतोष में रात-दिन आकाश पाताल जैसा अन्तर है। सुख भौतिक है, संतोष आध्यात्मिक, सुख-भोगपरक है, संतोष अनुभूतिपूरक है। एक आदर्श समाज वही होता है। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा व क्षमता के द्वारा सुख-साधनों को बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। साथ ही वह दूसरों की स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार का बाधक न हो। वरन् उनका सहयोग ही करे, यदि व्यक्ति इस तथ्य को समझकर लोभ, मोह व स्वार्थ से छुटकारा पा लें तो उसका सामाजिक, आर्थिक जीवन क्या से क्या हो जाएगा। इसका दृष्टान्त वेदों में है।

चारों वेदों में ऋक्, यजु, साम, और अथर्ववेद समाहित किये जाते हैं। वेदों की एक विचित्र शैली है, जो बड़े मार्मिक ढंग से भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक पदार्थों का वर्णन एक ही रीति से करती है। इसका कारण वेदों की नित्यता है। वेदों में बताया गया है कि समाज को क्या करना

चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वेद आज भी प्रासंगिक है, वेद के अनेक गूढ़ शब्दों का अर्थ करना नितान्त कठिन है, अतएव अर्थ करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। वेदों की गूढ़ता स्वीकार कर लेने पर यह आप ही स्वीकार करना पड़ता है कि जब पठन-पाठन बंद हो जाता है, तो पाठ्य विषय गूढ़ हो जाता है।

अर्थव्यवस्था का आधार :-

हमारी अर्थव्यवस्था कैसी होनी चाहिए इसका प्रमाण यजुर्वेद (13/27-29) में मिलता है।

मधु वाता ऋतायतेऽमधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीनः सन्त्वोषधीः॥२७॥

मधु नक्तु मुतोषसो मधुमत्पथिवं रजः । मधु घौरस्तुः नः पिता॥२८॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ऽ अस्तु सूर्यः ।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥६६५॥

अर्थात् हे परमात्मन्! संसार में वायु मधुर होकर बहे, नदियाँ मधुर होकर बहे, औषधियाँ मधुर होकर उगे। रात मधुर हो, प्रभात मधुर हो, पृथिवी मधुर हो और हमारा द्यौ पिता मधुर हो। वनस्पति मधुर हो। सूर्य मधुर हो और गौवं मधुर हो। जिस देश में ऐसी अर्थव्यवस्था का आवाहन किया जा रहा है और ऐसी अर्थव्यवस्था हो जायेगी वह देश धरती पर स्वर्ग के समान हो जायेगा, अगर विपरीत परिस्थिति की बात होती है तो उसके लिए भी प्रार्थना की गई है।

यतो यतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु।

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ (यजु. ३६/२२)

अर्थात् जहाँ-जहाँ हमारे लिए जैसी परिस्थिति हो, वहाँ-वहाँ हमें हर प्रकार के अभय करिये तथा प्रजा और पशुओं की ओर से भी हमें सुखी और अभय कीजिए।

इस मन्त्र के माध्यम से यह प्रार्थना की गई है कि किसी राष्ट्र में प्राकृतिक प्रकोप (जैसे - भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर, और वज्रपात जैसी विषम परिस्थितियों) से हमारी रक्षा करें क्योंकि किसी भी राष्ट्र में इसकी पुनरावृत्ति हो जाती है, तो शायद ही वहाँ पर विकास की अवधारणा को बल मिल जायेगा। इसलिए अभय करने की बात की गई है ताकि आदमी सुख पूर्वक जी सके।

इसके साथ ही समाज की व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसी समाज की अर्थव्यवस्था विकसित हो सकती है जहाँ राज व्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्श रूप होता है। समाज की रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकार से होती हैं। भीतरी रक्षा समाज के दुष्टों से की जाती है और बाहरी रक्षा बाहर के शत्रुओं से। उभय प्रकार

से रक्षित समाज बड़ा ही दिव्य होता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था वही विकसित करती है, जहाँ शांति होती है। इसका वर्णन यजुर्वेद में द्रष्टव्य है:-

आ ब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरोजायतां
निकामे - निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो
न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु २२/२२)

अर्थात् हे परमात्मन् हमारी विनती सुनिये, हमारे देश में धर्म, कर्म व्रतधारी ब्राह्मण पैदा हो। क्षत्रिय, रणधीर महारथी, धनुर्वेदी होने चाहिए, गायें प्रचुरमात्रा में दूध देने वाली हों और वृषभ बलशाली होने चाहिए, घोड़े गतिचपल होने चाहिए और स्त्रियाँ रूप गुणवाली होनी चाहिए, पुत्र विजयी रथी होने चाहिए जिसके तेज और बल के आगे कोई भी रुकने नहीं पावे, जब-जब जल की आकांक्षा हो तब-तब बादल जल बरसाता रहे, पेड़-पौधे पके फलों से लदे हों और सभी जगह मंगल की कामना हो।

राजव्यवस्था का आधार :-

राजव्यवस्था के संदर्भ में कहा गया है कि किसी भी राज्य की व्यवस्था तभी अच्छी हो सकती है जब शासन अच्छे राजतन्त्र के द्वारा हो और अच्छा राजतन्त्र तभी हो सकता है जब राजा प्रजा के द्वारा मनोनीत हो। प्रजा के द्वारा ऐसे राजा को चुनने की स्थिति को ही आज गणतन्त्र की संज्ञा दी गई है और भारत विश्व में सबसे पहला गणतांत्रिक देश है। गणतन्त्र का उल्लेख ऋग्वेद के उपदेश में मिलता है।

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतेवाविचाचलिः।

इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥२॥ (ऋग्वेद १०/१७३/२)

अर्थात् हे महापुरुष! हम तुझको लाये हैं, इसलिए अन्दर आ और चंचल न होकर स्थिर रह, जिससे तुझे समस्त प्रजा चाहती रहे और तुझसे राष्ट्र का कभी पतन न हो। यहाँ आकर पर्वत के समान स्थिर होकर ठहर जा और इन्द्र के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण कर, जिससे कभी राष्ट्र का पतन न हो। इन मंत्रों में प्रजा के द्वारा राजा को मनोनीत करने की आज्ञा है। लेकिन किस प्रकार के पुरुष को राजा बनाना चाहिए, इसका उदाहरण अथर्ववेद में मिलता है।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानातधिपतिर्बभूव।

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ (अथर्व ४/८/१)

अर्थात् वही सब प्राणियों का अधिपति होने योग्य है, जो समस्त संसार का दुग्धादि अन्नो से अच्छी तरह पोषण करता है। उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है, इसलिए वही राजा होकर इस राज्य को अंगीकार करें। अतः जो महापुरुष प्रजापालन के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर हो, वही राजा होने योग्य है।

बौद्धिक आधार :

राजा को यह स्मरण रखना चाहिए कि दुष्टों का सुधार केवल कठोर शासन से नहीं हो सकता है। इसलिए राज्य में ज्ञान विद्या, सभ्यता, सदाचार और आस्तिकता का भी प्रचार करना आवश्यक है जो केवल ब्राह्मणों, विद्वानों और सदाचारी पुरुषों का आदर बढ़ावे, जिसका वर्णन अथर्ववेद (अथर्व ५/१७, ९-१८) में द्रष्टव्य है।

अर्थात् मनुष्य समाज का ब्राह्मण ही अधिपति है। क्षत्रिय और वैश्य नहीं। जिस तरह सूर्य पाँचों ग्रहों को आज्ञा करता हुआ चलाता है। उसी तरह विद्या बल से सबको ब्राह्मण ही चलाता है। इस विद्या को देवताओं ने पहले ब्राह्मण को दिया, और क्षत्रियों ने फिर दूसरों को दिया। इस प्रकार से विद्या को सबमें बाँटकर ही मनुष्य बल और कीर्ति को प्राप्त होते हैं। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है, वहाँ वह सैकड़ों धाराओं से बहकर और कल्याणकारी होकर प्रतिष्ठित नहीं होती। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है वहाँ बहुश्रुत और बड़े दिमाग का कोई मनुष्य पैदा नहीं होता। जिसके राज्य में विद्या का प्रचार बंद है, ऐसे राजा का अलंकृत नौकर भी ऐश्वर्यवाले पुरुषों के सम्मुख जा नहीं सकता। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रोका जाता है, वहाँ श्यामकर्ण घोड़ा भी रथ में जुड़कर बढ़ाई नहीं प्राप्त कर सकता। जहाँ विद्या का प्रचार नहीं हो, वहाँ न खेतों में पुष्करिणी होती है और न पृथिवी में कुद पैदा ही होता है। पृथिवी में उपज खाने वाले वे किसान जिनमें विद्या का लेश नहीं है, भूमि में अधिक अन्न नहीं पैदा कर सकते। जहाँ ब्राह्मण रात्रि को भूखा सोता है, वहाँ न गौओं को दूध होता है और नहीं वृषभ बैलगाड़ी खींच सकते हैं। अर्थात् जहाँ पर ब्राह्मण और विद्या का निरादर होता है, वहाँ पर सर्वनाश हो जाता है।

वर्तमान आर्थिक परिवेश में भी यही माना जाता है कि वे ही राष्ट्र के विकास की अग्रिम पंक्ति में आते हैं, जहाँ अधिक से अधिक जनता बौद्धिक रूप से विकसित है और बौद्धिक विकास केवल शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है, किसी अन्य से नहीं।

सामाजिक सद्भावना का आधार

पुरुषसूक्त में सृष्टि उत्पत्ति का विषय बहुत ही अच्छी तरह समझाया गया है। यह विषय प्रसंगानुसार चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः। ऋग्वेद (१०/१०/१)

सहस्रबाहु पुरुषः॥ अथर्ववेद

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः। यजुर्वेद

मध्यं तदस्य यद्वैश्यः॥ अथर्ववेद

वर्तमान सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन किया जाय तो यह पता चलता है कि वैदिक काल में भी इसी तरह की व्यवस्था प्रचलित थी जिसका आधार आज की व्यवस्था से काफी मजबूत था।

वेद में इस सूक्त के माध्यम से जिस तरह के समाज की अवधारणा की कल्पना की गई है। वह निम्न प्रकार है-

जहाँ ऋग्वेद में शीर्ष शब्द है, वहाँ अथर्ववेद में बाहु शब्द है और जहाँ यजुर्वेद में ऊरू शब्द है, वहाँ अथर्ववेद में मध्य शब्द है। पहला ऋग्वेद और अथर्ववेद का पाठभेद है। ऋग्वेद एक पुरुष का वर्णन करता है और कहता है कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सतस्रपात्:' अर्थात् एक पुरुष है, जिसके हजारों शिर हैं, हजारों आँखें हैं और हजारों पैर हैं। इसमें शिर से पैर तक सारे शरीर का ढाँचा बतलाया है और आँखों का भी वर्णन कर दिया है। अब आप इस प्रकार का एक पुतला बनावें, जिसमें शिर हो, आँखें हो और पैर भी लगें और गौर से देखे तो इसमें किस बात की कमी है। आपको मालूम होगा कि इसके हाथ ही नहीं हैं। अथर्ववेद का मंत्र इसी को पूरा करता है। अथर्ववेद कहता है कि 'सहस्र बाहुः पुरुष सहस्राक्षुः सहस्रपात्:' अर्थात् एक पुरुष जिसके हजारों हाथ हैं, हजारों आँखें हैं और हजारों पैर हैं। आप इसका पुतला बनावें और देखें कि इस पुतले के पास उस पुतले की एक चीज नहीं है और एक चीज अधिक है- सिर नहीं है और हाथ है। अर्थात् ज्ञान प्रधान सिर है, परन्तु कर्मप्रधान हाथ नहीं है। अतः जब तक दोनों एक में न मिल जाय पूर्णता नहीं हो सकती। क्योंकि (अकेला ऋग्वेद बिना अथर्ववेद के अकेला ज्ञान बिना कर्म के) अपूर्ण है। इस साहित्यिक छायावाद काव्य के द्वारा वेदों में कैसी अच्छी शिक्षा दी है।

दूसरा गंभीर सामाजिक-आर्थिक वैज्ञानिक प्रकाश दूसरे पाठभेद में है। यजुर्वेद में है कि 'ऊरूतदस्य यद्वैश्य' अर्थात् उस पुरुष का ऊरू वैश्य है और वैश्य दो काम करता है- एक इधर-उधर आता-जाता है और दूसरे पदार्थों को यथायोग्य आवश्यकतानुसार पहुँचाता है। यदि वैश्य

केवल इधर-उधर दौड़ता ही है और पदार्थों को साथ नहीं ले जाता है, तो उसका दौड़ना व्यर्थ है। अर्थात् यजुर्वेद में ऊरू शब्द के लिए है जो कि जाँघ का वाचक है। अथर्ववेद मध्यं शब्द के द्वारा आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थ पहुँचने की योग्यता है वही शरीर में यथायोग्य पोषण पहुँचाता है। इसलिए यजुर्वेद 'ऊरू' के द्वारा वैश्य का गमनागमन बतलाता है और अथर्ववेद मध्यं शब्द के द्वारा आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थों को पहुँचाना बतलाता है। पद्भ्यार शूद्रो अजायत कहा गया है। अर्थात् जंघा बिना पाद के कोई भी कार्य कर नहीं सकता है। इसलिए बिना शूद्रों की मदद के बिना मजदूर के दल को साथ लिए व्यापार भी नहीं हो सकता।

अर्थात् सूक्त का गूढ़ अध्ययन करने से पता चलता है कि जहाँ पर किसी भी पुरुष की कल्पना की जाती है वहाँ पर उसमें शिर, बाहु, उदर और पैरों का भी होना आवश्यक है। इसमें किसी भी एक के बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती है और वह अपूर्ण रह जायेगा वैदिक काल की व्यवस्था में जितना ही महत्त्व वैश्य को उदर के रूप में और शूद्रों को पैर के रूप में दिया गया है और कहा गया है कि इसके बिना एकीकृत या सामेकित हुए बिना किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र का विकास संभव नहीं है और ये सभी एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य-व्यवस्था में कार्य करते हैं। किसी की महत्ता किसी से कम नहीं है। इसका उदाहरण भगवद्गीता के 18वें अध्याय के 41वें श्लोक में भी किया गया है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

कर्तव्य के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र को उनके कार्य के गुणवत्ता के आधार पर कार्य करते रहना चाहिए।

सम्पन्नता एवं वैभवता का आधार:-

वैदिक अर्थव्यवस्था का व्याख्यान करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि-

यत्र गावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।

उलूखल सुतानामवेद्विन्द्र जलगुलः॥१॥

यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता॥ उलूखल०॥२॥

यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते॥ उलूख०॥२॥

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव ॥ उलूख०॥४॥

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे॥

इह धुमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥५॥ (ऋग्वेद-१-२८-६१४)

अर्थात् जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे ऊपर चलाता है। जहाँ दो जंधाओं के बीच में सिलबट्टा चलता है, जहाँ स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना, पकाना जानती है, जहाँ मथानी को रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर-घर में उलूखल-मूसल चलता है, बेधर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय के समय दुधुभि प्रकाशित होती है। दून वैदिक घरों में चक्की, सिलबट्टा, उखली मूसल और मथानी के शब्द दुधुभिः के समान अन्न चाहनेवालों को घोषित कर रहे हैं और गृहदेवियाँ पदार्थों को धरने उठाने और राँधने-पकाने में लगी हैं। यह मन्त्र आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना की यह वैदिक काल में था। आज भी ग्रामीण भारत की अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाय तो यह पता चलता है कि वैदिक काल की गाथा नहीं है बल्कि वर्तमान ग्रामीण क्षेत्र की गाथा जोकि आज भी पूर्णरूपेण इसी मन्त्र के आधार पर आधारित है। आज भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इन कार्यों का उतना ही महत्त्व है जितना की तब था। इससे भी अधिक आर्थिक उन्नति का समय था वैदिक काल। आज जहाँ जल लोगों को भरपूर मात्रा में नहीं मिल पा रहा है। उस समय में जल, दूध, घृत, अन्न तथा फलों की अधिकता थी इसका विवरण यजुर्वेद के इस मन्त्र में मिलता है।

ऊर्जा वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्त्रुतम्।

स्वाधा स्थ तपर्यत में पितृन्॥ (यजुर्वेद २१३४/ ६१५)

अर्थात् बल कारक जल, दूध, घृत दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों की धारा बह रही है, अतः हे स्वधा में ठहरे हुए पितरो। आपको तृप्त करने की कोशिश में है।

श्रम विभाजन एवं श्रमिक कार्यकुशलता का आधारः -

आगे वेद में इस बात का उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार एक कार्यकुशल व्यक्ति को अपनी कुशलता के अनुसार ही कार्य करना चाहिए और यही कार्य कुशलता उन्हें और अधिक अर्थोपार्जन धन प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है जो कि इस प्रकार है :-

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।

तस्मिन् इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥

अर्थात् धन से अधिक धन मिलने की इच्छा से धन के द्वारा जो व्यापार करता है, उसी व्यापार में मेरी रुचि रहने दीजिए। यह रुचि तभी बढ़ सकती है जब अपनी- अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया जावे। इसलिए अपनी बुद्धि के अनुसार ही अपने-अपने धंधों को करे, जिसे ऋग्वेद में निम्न प्रकार कहा गया है।

नाना नं वा उनो धियो वि व्रतानि जनानाम्।

तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुवन्तमिच्छति॥ (ऋग्वेद १/११२/२)

अर्थात् अपनी और अन्य लोगों की बुद्धि और कर्म सचमुच ही भिन्न है। बड़ई चीड़ने-फाड़ने की, वैद्य रोगनिवृत्ति की और ब्राह्मण यज्ञ की इच्छा करता है।

आय के वितरण का आधार :-

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।

कामारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवंतमिच्छति॥ (ऋग्वेद १/११२/२)

अर्थात् परिपक्व औषधि लेकर वैद्य, पक्षियों के पंख लेकर चीजें बनाने वाले कारीगर, चमकते हुये रत्न लेकर सुनार और अन्य चीजों को लेकर अन्य धंधादार अपनी-अपनी दुकानों में बेचने की इच्छा करते हैं। इसके आगे वेद उपदेश करते हैं कि पूर्व संचित कर्मानुसार एक ही कुटुम्ब में पैदा होते हुए और रहते हुए भी मनुष्यों को अलग-अलग कामों में रुचि होती है और वे लोग अलग-अलग धंधों को करते हैं जो कि निम्न मन्त्र में है।

करूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥ (ऋग्वेद १/११२/३)

अर्थात् मैं बड़ई हूँ मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है, इसलिए इसी प्रकार के विविध बुद्धि और कला कुशलता वाले लोगों में हम बसे। इसका अभिप्राय यह है कि स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति के अनुसार काम करने की प्रक्रिया से ही कला एवं व्यवसाय में उन्नति होती है और लोग पर्याप्त जीविका प्राप्त कर सकते हैं।

इस मन्त्र के माध्यम से दो और बातें सामने आती हैं, वह है उस समय की वर्ण व्यवस्था का आधार जिसमें लोगों को कई वर्णों में विभक्त बताया गया है और दूसरा यह है कि आज की आधुनिक अर्थव्यवस्था अपने इस वैदिक कार्य को पश्चिमी संस्कृति से सीख रही है जबकि यह हमारी वैदिक संस्कृति का एक अंग है जिसे हमें फिर से सीखने की आवश्यकता लग रही है। इस तरह हम कह सकते हैं कि एक बार फिर से अर्थव्यवस्था का आधार वैदिक सिद्धान्तों की ओर जा रहा है और एक ही परिवार के सदस्य डाक्टर, वकील, इंजिनियर व्यवसायी और अन्य क्षेत्रों में लगे हुए हैं। क्या यह इस मन्त्र की सार्थकता नहीं है?

वेद में छोटे-छोटे विविध प्रकार के कारीगरों को मानपान देने की आज्ञा इस प्रकार की गई है क्योंकि ये भी उसी अर्थव्यवस्था के एक अंग हैं। जिसके बिना इनके द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य अधूरे रह सकते हैं और इन्हें यदि सम्पूर्ण मान-सम्मान दिया गया तो ये अर्थव्यवस्था में अपने कार्य के द्वारा एक मील का पत्थर साबित हो सकते हैं, जिसका विवरण निम्न मन्त्र में है।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो

नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च वो नमो

नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो

नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥ (यजु० १६/२७)

अर्थात् तक्षा, रथकार, कुलाल, बढ़ई, निषाद, और अनय छोटे-छोटे कारीगरों का सत्कार हो। कारीगरों की इस प्रतिष्ठा से प्रतीत होता है कि भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी, से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ तैयार कराने का वेदों में आदेश है।

आर्थिक क्रिया का आधार :-

वर्तमान में अर्थशास्त्र ने सबसे अधिक महत्व इच्छाओं को दिया गया है। इच्छा ही बाद में आवश्यकता और आवश्यकता से ही मांग का निर्माण होता है जिसे वर्तमान अर्थशास्त्री ने आधुनिक अर्थव्यवस्था के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है। वर्तमान विश्व की अर्थव्यवस्था जिस प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर है उसमें वैदिक गुण किस प्रकार से सन्निहित है इसका अध्ययन मनुष्य की इच्छाओं के आधार पर किया जा सकता है। मनुष्य की इच्छाएँ सात भागों में विभाजित हैं। बहुत दिन जीने की इच्छा, (2) स्त्री-पुत्र, रति, शोभा, शृंगार की इच्छा (3) खाने-पीने, पहिरने, ओढ़ने, मकान, गृहस्थी, बाग-बगीचे और खेत तथा पशुओं की इच्छा (4) यश और मान आदि की इच्छा (5) विद्या ज्ञान विज्ञान और मालूमात की इच्छा (6) अपने साथ कोई अन्याय न करे, अर्थात् न्याय की इच्छा (7) बार-बार जन्म मरण के दुःख से छूटकर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा मनुष्य मात्र को रहती है।

अपनी इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए नित्य परमेश्वर से प्रार्थना करने का उपदेश दिया है:-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्ववेद - १९/७१/१/६११)

अर्थात् प्रचोदयात् पदान्तवाली और द्विजो को पवित्र करने वाली वेदमाता गायत्री की मैं इसलिए स्तुति करता हूँ कि वह मुझको आयु, बल, प्रजा, कीर्ति, धन और वैदिक ज्ञान देकर ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षपद को पहुँचावें। इस आदेश से यह ज्ञात होता है कि मनुष्यमात्र की ये स्वाभाविक इच्छाएँ हैं जो कि नैसर्गिक हैं। इन सबमें दीर्घजीवन की इच्छा सर्वप्रथम है जिसे आज के आर्थिक युग में औसत आयु या जीवन प्रत्याशा के रूप से परिभाषित किया जाता है। उसके लिए वेदों में कहा गया है कि:-

शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्रपितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तो॥

अर्थत् हे विद्वानो! मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है, अतः जब तक हमारे शरीरों की जरा अवस्था न हो जाय और हमारा पुत्र भी पिता न हो जाय तब तक हम जिएँ। वैदिक काल से आज तक लोगों में अर्थ की लालसा किस प्रकार उन्मादित होती रहती है इसका वर्णन वेद में निम्न मंत्र में दिखाया गया है।

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्रिपादमभ्येति पश्चात्।

चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ (ऋग् १०१/११७/८)

एक गुणा धन रखनेवाला अपने से दुगुने धन रखने वाले के मार्ग का आक्रमण करता है। दुगुने धनवान तिगुने धन वाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धनवाला अपने से दूने धनवालों की महत्ता को प्राप्त होता है। अर्थात् धनवालों को देखकर स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखता है और धन की यही इच्छा आज के भौतिकवादी जगत् में पर्याप्त धन होने के बावजूद भी लोगों से उनका सुख - चैन, मान- मर्यादा या अन्य किसी प्रकार की वैभव को देख लेता है और लोग एक-दूसरे से आगे निकलने की चाह में अपना सब कुछ गवां बैठता है। क्योंकि इस नश्वर जगत् में कौन किस से किस क्षेत्र में आगे निकल जायेगा, और इससे किसको आहत पहुँचेगा यह बता पाना संभव नहीं है। वर्तमान आर्थिक परिवेश वस्तु की पूरकता को कम और स्पर्धात्मकता को अधिक जोड़ देकर देखता है जिसके कारण “एको अहम् द्वितीयो नास्ति” की कल्पना साकार नहीं हो पाती है और मनुष्य भटककर रह जाता है।

इस भटकाव में अर्थ, धर्म काम, मोक्ष, ये चार स्तम्भ है जिसपर वैदिक काल से लेकर आजतक अर्थव्यवस्था टिकी हुई है और मनुष्य आज इन चारों पर ही अपना एकाधिकार प्राप्त करना चाहता है। लेकिन जीवन कम पड़ जाता है, इनकी चाह कभी कम नहीं हो पाती है। इन चारों की प्रवृत्ति ऐसी है कि इनका जितना ही अधिक से अधिक प्रयोग होता है लालसा बढ़ती जाती है।

वेदों में अर्थ संग्रह के पांच नियम बतलाये गये हैं। जिससे अपत्तिरहित समय में अर्थसंग्रह करना चाहिए। पहला नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। दूसरा नियम यह है कि शरीर को कष्ट न हो। तीसरा नियम यह है अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न किये गए अर्थ से निर्वाह किया जाए, दूसरों की कमाई से नहीं। चौथा नियम यह है अपना उत्पन्न किया हुआ अर्थ भी किसी गृहित कर्म के द्वारा उत्पन्न किया गया न हो। पांचवां नियम यह है कि अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में पढ़ने-लिखने में विघ्न उत्पन्न न हो। इन पाँचों नियमों को ध्यान

में रखकर उपार्जन किया जाए। अर्थात् अनर्थ से बचते हुए अर्थोपार्जन करना चाहिए।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्ततेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छंतथं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजु ४०/१-२)

अर्थात् इस संसार में परमात्मा को हाजिर नाजिर समझकर किसी के भी धन की इच्छा न करो, किन्तु उतने ही से निर्वाह करो, जितना उसने तुम्हारे लिए स्थिर किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष हो सकता है। और कोई दूसरा उपाय नहीं है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में अर्थसंग्रह के लिए लोग कष्ट की बात ही नहीं सोचते हैं क्योंकि लोगों का मानना है कि बिना दूसरों के कष्ट के अर्थ संग्रह संभव ही नहीं है। जब व्यक्ति दूसरों को कष्ट देने के लिए तैयार होगा तो स्वाभाविक है कि उसे भी कष्ट होगा ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ की बात करना बेईमानी होगी और लोग लूट-खसोट की स्थिति में ही अर्थसंग्रह कर पाते हैं। यही उनकी कमाई होती है। अर्थात् वर्तमान अर्थ संग्रह में लोग अर्थ-अनर्थ की नैतिक - अनैतिक की उपेक्षा कर, किसी भी तरह से धनोपार्जन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। चाहे उसके लिए उन्हें किसी की हत्या जैसा जुर्म घिनौना कृत्य क्यों नहीं करना पड़े। सभी कुछ अर्थ के आगे महत्त्वहीन हो जाता है। अर्थात् कृत्यों की परवाह किए बगैर धनोपार्जन करना चाहिए चाहे वह जैसे हो।

औषधियों के उपयोग एवं सुरक्षा का अधिकारी :-

वेदों में औषधियों का वर्णन भी वृहत् ढंग से किया गया है जो कि आज के वैश्विक परिवेश में राष्ट्र के लिए अर्थोपार्जन का एक विशेष स्रोत बन सकता है। वैसे वेद में ही आज बहुत सारे औषधियों के उपयोग एवं उनके विशेषताओं का वर्णन है जिसका अध्ययन कर हम आज उसे विश्व व्यापार संगठन में आई.पी.आर. के तहत उसे पेटेन्ट करवा सकते हैं और उसका लाभ उठा सकते हैं। लेकिन हल्दी, नीम और बासमती जैसे भारतीय उत्पादों का जब अन्य देश पेटेन्ट करवा लेते हैं तो हमारी नजर उन पर पड़ती है, आज विश्व के अनेक देशों ने वेदों का अनुवाद कर और उनका अध्ययन करना शुरू कर दिया है। जबकि हम भारतीयों ने वैदिक संस्कृति एवं वेदों को पुराण मानकर उसका अध्ययन करना छोड़ दिया। वेदों में दिये हुए हवन शाकल्य से आज भी पर्यावरण को शुद्ध करने की कोशिश की जाती है। जबकि औद्योगीकरण से पर्यावरण को प्रदूषित करने की कोशिश की जा रही है। यदि पेड़ पौधों तथा औषधियों का अध्ययन कर इन्हें सुरक्षित किया जाय तो यह हमें विपुल धन, स्वच्छ पर्यावरण एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक विशेष पहचान देंगे जो कि हमें सिर्फ वेदों के मार्गदर्शन से ही मिल सकती है। वेदों में औषधियों का वर्णन निम्न

प्रकार से है :-

क्षुद्यामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।

अपामार्गं त्वयावयं सर्वं तदप मृज्महे॥ (अथर्व० ४/१७/६/६५९)

अर्थात् क्षुधा मारने वाले, तृषा मारने वाले, निर्धनता और निर्वशता दूर करने वाले हे अपामार्ग! तुझे तलाश करते हैं। इसमें अपामार्ग में उपर्युक्त गुण बतलाये गये हैं। इसी तरह

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यूऽतातिविद्धभेषजी।

तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ (अथर्व ०६/१०९/१/६५९)

अर्थात् विद्वानों ने पिप्पली को उन्मत्त की औषधि, बड़े घाव भरने वाले की दवा और जीवन देने वाली माता है। पीपल के गुण का इसी तरह वैद्यक में भी गुणगान मिलता है।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविवा।

विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामिवचातनः॥ (ऋ० १०/९७/६/५९)

अर्थात् राजसभा में जिस प्रकार सभासद एकत्रित होते हैं, उसी तरह जिसके पास औषधियाँ एकत्रित रहती हैं, उसको विद्वान् लोग रोगों को दूर करने वाला और अपमृत्यु का नाश करने वाला वैद्य कहते हैं। वैद्य के पास इकट्ठी रहने वाली सैकड़ों औषधियों का वर्णन वेदों में है। यजुर्वेद के सप्तम अध्याय में एक विशेष श्लोक है:-

अर्थशास्त्रीय निष्कर्ष का आधार :-

कोऽदात्कस्मा ऽ अदात्कामोऽदात्कामायादात्।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥ (यजु० ७/४८)

अर्थात् कौन (दक्षिणा) देता है? किसके लिए देता है? कामनाएँ ही दान देने के लिए प्रेरित करती हैं। कामनाओं का ही दान दिया जाता है तथा कामनाएँ ही दान लेती हैं। यहाँ कामनाएँ ही सबकुछ हैं।

अर्थशास्त्र का मूल भी कामना ही है। मनुष्य लाभ एवं संतोष की कामना से ही कार्य करता है और कामनाओं की आकांक्षा में फँसकर रह जाता है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रीय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	गिल्मप्स ऑफ़ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ़ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं० इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	इंशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.,
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पांथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४१४०४ (उत्तरांचल)

मुद्रक : किरण ऑफ़सेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975